महाकवि-श्रीजिनवल्लभसूरि-प्रणीतं

धर्मशिक्षा - प्रकरणम्

[महोपाध्याय जिनपालगणिरचितवृत्तिसमेतम्]

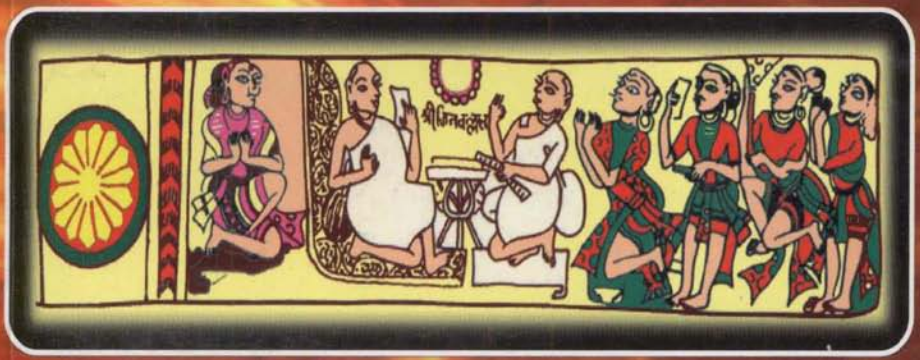

साहित्य वाचस्पति म० विनयसागर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महाकवि-श्रीजिवल्लभसूरि-प्रणीतं

धर्मशिक्षा - प्रकरणम्

[महोपाध्याय जिनपालगणिरचितवृत्तिसमेतम्]

आशीर्वचन :

आगमज्ञ मुनिराज श्री जम्बूविजयजी म०

सम्पादक :

साहित्य वाचस्पति म० विनयसागर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्रोत :

(१) **देवेन्द्र राज मेहता**
संस्थापक
प्राकृत भारती अकादमी
१३-ए, मेन मालवीय नगर,
जयपुर- ३०२ ०१७
दूरभाष : ०१४१-२५२४८२७

(२) ट्रस्टी
श्री सिद्धि-भुवन-मनोहर जैन ट्रस्ट
ए-३, चन्दलबाला अपार्टमेन्ट,
अशोक नगर, पालड़ी,
अहमदाबाद - ३८० ००७०
(गुजरात)

(३) ट्रस्टी
श्री जैन आत्मानन्द सभा
खारगेट,
भावनगर-३६४००१
(गुजरात)

(४) **मंजुल जैन**
मैनेजिंग ट्रस्टी
एम.एस.पी.एस.जी. चेरिटेबिल ट्रस्ट
प्राकृत भारती अकादमी
१३-ए, मेन मालवीय नगर
जयपुर-३०२ ०१७
दूरभाष : ०१४१-२५२४८२८
मोबाईल : ९३१४८८९९०३

प्रथम संस्करण: सन् २००५
मूल्य : १००/-
© म० विनयसागर
लेजर टाईप सैटिंग
श्री ग्राफिक्स, जयपुर
मुद्रक :
पोपुलर प्रिन्टर्स, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

जो कुछ आत्मा का, व्यक्ति का, समाज का हित करे वह धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत आता है। आत्मा के संदर्भ में जो कार्य या गुण आत्मा को पवित्रता की ओर ले जाते हैं और अन्ततः सद्गति प्रदान करते हैं वे धर्म का अंग हैं। जो शिक्षा हमें ऐसे श्रेयस गुणों की प्राप्ति करावे, वही धर्म शिक्षा है। आप्त पुरुषों की वाणी वही मार्ग दिखाती है।

प्रस्तुत पुस्तक में आध्यात्म मार्ग की ओर सहायक अट्ठारह विषयों का चयन किया गया है। इन विषयों के दोष दिखा कर श्रेय मार्ग के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन किया गया है।

इस दुर्लभ ग्रन्थ की एक मात्र पाण्डुलिपि जैसलमेर भण्डार में है। म० विनयसागरजी ने इसे प्रकाशन योग्य आकार दिया है। आगमवेत्ता पूज्य मु० जम्बूविजयजी के विशेष आग्रह और प्रेरणा से इसे संयुक्त प्रकाशन के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है।

आशा है धर्म प्रेमी पाठक व पुरा-साहित्य के अध्येता विद्वान् पाठक इस प्राकृत भारती पुष्प संख्या १७१ को उपयोगी पाएँगे।

प्रकाशन कार्य से जुड़े सभी सहयोगियों का धन्यवाद।

जितेन्द्र भाई सिंघवी
ट्रस्टी,
श्री सिद्धि भुवन मनोहर जैन ट्रस्ट
पालड़ी, अहमदाबाद

ट्रस्टी,
श्री जेन आत्मानंद सभा
भावनगर

देवेन्द्र राज मेहता
संस्थापक
प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

मंजूल जैन
मैनेजिंग ट्रस्टी
एम०एस०पी०एस०जी०
चेरिटेबल ट्रस्ट, जयपुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषयानुक्रम

- आमुखम् I - III
- प्रस्तावना V - XX
- **धर्मशिक्षा-प्रकरणं सवृत्तिकम्** १ - ९८
- **परिशिष्ट**

१. धर्मशिक्षायाः पद्यानुक्रमणी ९९

२. वृत्तिकारोद्धृत-पद्यानुक्रमणी १०० - १०४

३. उत्तराध्ययनसूत्र-बृहद्वृत्तौ तृतीयाध्ययनांशः १०५ - १०९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्पण

जिनशासनभृङ्गार व्याख्यान वाचस्पति

आचार्य श्री विजयचन्द्रोदयसूरिजी म०

को

सविनय सस्नेह

महोपाध्याय विनयसागर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीसिद्धाचलमण्डन-श्रीऋषभदेवस्वामिने नमः ॥
श्रीगिरनारमण्डन-श्रीनेमिनाथाय नमः ॥
श्रीशंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः ॥
श्रीमहावीरस्वामिने नमः ॥
श्रीगौतमस्वामिने नमः ॥

आमुखम्

इस बात का मुझे बड़ा हर्ष है कि श्री नेमिनाथ भगवान् के मोक्ष-कल्याणक से पवित्र गिरनार पर्वत के शिखर से यह आमुख लिख रहा हूँ। तीन वर्ष पहले जब हमारा जयपुर जाने का हुआ तब प्राकृत भारती अकादमी के निदेशक डॉ० विनयसागरजी ने **वल्लभ-भारती** का प्रथम खण्ड हमको दिया था। नाकोड़ाजी के चातुर्मास में जब वह पढ़ा तब जिनवल्लभसूरि की विद्वत्ता से मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ और द्वितीय खण्ड पढने की इच्छा हुई। मैंने डॉ० विनयसागरजी को लिखा, किन्तु उत्तर में उन्होंने लिखा - आर्थिक कारणवशात् वह अद्यावधि मुद्रित हुआ ही नहीं। जब मिले तब मैंने कहा— **जिनवल्लभगणि का जो कुछ साहित्य हो सभी प्रकाशित कर दो। आर्थिक सहायता की चिन्ता मत करो, सब हो जायेगा।**

उसके बाद उन्होंने **जिनवल्लभसूरि ग्रन्थावलि** के नाम से **वल्लभ-भारती का द्वितीय खण्ड** कुछ मास पूर्व ही प्रकाशित कर दिया और **जिनवल्लभगणि विरचित धर्मशिक्षा प्रकरण कि जिनपालोपाध्याय विरचित टीका** के साथ कम्प्युटर से एण्ट्री कर मेरे पास प्रूफ भेजा। मैंने देखा कि उसमें अशुद्धियों से पूर्ण था, जिसके आधार से पाण्डुलिपि की गई थी वह जैसलमेर भण्डार की फोटो कॉपी बहुत झांखी तथा अस्पष्ट थी। अत्यधिक परिश्रम से उस फोटो कॉपी के आधार से एवं अन्यान्य सामग्री के आधार से हमने संशोधन (Correction) किया और वर्तमान सम्पादन पद्धति के अनुसार उसका सम्पादन किया जो आज आप के सामने उपस्थित हो रहा है, किन्तु चालू विहार में ग्रन्थ सामग्री न होने से मूल स्थान सूचित नहीं कर सका। जिनके मूलस्थान प्राप्त हैं वे [ ] ऐसे कोष्ठक में उद्धृत पाठ के पीछे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूचित किये हैं। जहाँ मूलस्थान नहीं मिला या नहीं खोज पाया वहाँ ऐसे [ ] कोष्ठक रखे हैं। पढ़ने वालों को जब प्राप्त हो तब वह रिक्त स्थान को पूरा कर दें।

टीकाकार जिनपाल की विद्वत्ता भी अप्रतिम है। उन्होंने अनेक व्याकरण, अलंकार, प्राचीन धर्मशास्त्रों के साक्षिपाठ दिये हैं। उनके लिए जहाँ विवेचन की आवश्यकता हो वहाँ उन पाठों की टीका मूलग्रन्थ से देख लें। मम्मट के काव्यप्रकाश से एवं रुद्रट के काव्यालंकार से उपाध्याय श्री जिनपाल ने टीका में बहुत साक्षिपाठ उद्धृत किये हैं, सामान्यतया उनका अर्थ समझना कठिन है, उनकी टीका ही देखनी पड़ती है। टीका लम्बी होने से परिशिष्ट में देना भी मुश्किल था, अतः जिज्ञासु अभ्यासियों को उन ग्रन्थों की टीका ही देख लेना उपयुक्त है। अलंकारों का वर्णन भी काव्यप्रकाश एवं रुद्रट के काव्यालंकार आदि से समझ लेना चाहिए।

व्याकरण में कभी सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन से, कभी पाणिनि से कभी कातन्त्रव्याकरण से पाठ उद्धृत किये हैं। कुछ का मूलस्थान का पता ही नहीं लगा। बुद्धिसागर व्याकरण प्रकाशित नहीं हुआ है, सम्भव है उसके भी उद्धरण हों।

मेरे विनीतशिष्य मुनि धर्मचन्द्रविजयजी ने सूक्ष्मता से सभी प्रूफों को पढ़कर मुझे बहुत सहायता की है और अन्य शिष्यवर्ग में मुनि पुण्डरीकरत्नविजयजी, मुनि धर्मघोषविजयजी एवं मुनि महाविदेहविजयजी ने भिन्न-भिन्न रूप में बहुत सहायता की है इसलिये इनको बहुत-बहुत धन्यवाद।

मेरी पूज्य माता शतवर्षाधिकायु साध्वीजी श्रीमनोहरश्रीजी महाराज की प्रशिष्या, साध्वीजी सूर्यप्रभाश्रीजी की शिष्या साध्वीजी जिनेन्द्रप्रभाश्रीजी ने भी प्रूफ पढकर महत्त्व के सूचन किये हैं इसलिये इनको भी मेरा धन्यवाद।

देवगुरुकृपा से प्रेरित होकर जिस स्वरूप में यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है उसको वाचकवर्ग पढ़ें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री जिनवल्लभगणि विरचित दूसरे अन्य ग्रन्थ भी अप्रकाशित टीकाओं के साथ प्रकाशित किया जाए ऐसा मेरा डॉ० विनयसागरजी से अनुरोध है। मैं तो चाहता हूँ कि प्रकाशित टीका ग्रन्थ भी वर्तमान सम्पादन पद्धति के अनुरूप ढंग से पुनः प्रकाशित किये जाएं। बस इतनी विज्ञप्ति के साथ यह आमुख भगवान् नेमिनाथ की छाया में लिखकर समाप्त करता हूँ और यह भगवान् नेमिनाथ के कर-कमलो में समर्पित कर धन्यता का अनुभव करता हूँ।

फाल्गुन शुक्ल १० रविवार
विक्रम संवत् २०६१
गिरनार पर्वत शिखर
जूनागढ़ - गुजरात राज्य
२०-०३-२००५ ई.स.

पूज्यपादाचार्य - **श्रीविजयसिद्धिसूरीश्वर**पट्टालङ्कार-
पूज्यपादाचार्य - **श्रीविजयमेघसूरीश्वर**शिष्यरत्न-
पूज्यपादसद्गुरुदेवपिताश्री मुनिराज-
भुवनविजयजी महाराज का अन्तेवासी
मुनि जम्बूविजय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना

शासन नायक भगवान् महावीर की धर्मदेशना सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय अर्द्धमागधी लोक भाषा में हुई थी। देशना में अणु, परमाणु, स्कन्ध, पुद्गल, आत्मा आदि वैज्ञानिक विषयों के साथ-साथ सामान्य जन के लिए आत्मोत्थान को दृष्टि में रखकर व्रत आदि आचार और दानादि धर्म का प्रतिपालन भी रहता था। महावीर वाणी की यह असाधारण विशेषता थी कि मानव और देव ही नहीं, पशु भी अपनी-अपनी धारणाओं के अनुसार उसको ग्रहण कर लेते थे। अपने अनुयायिओं के लिए मुख्यतः आचारप्रधान, और जीवन में आचरण करने योग्य धर्म की व्याख्या का प्रतिपादन होता था। वस्तुस्वरूप को समझ कर आत्मोत्थान ही इस देशना का मुख्य लक्ष्य होता था। उस देशना के कुछ अंशों को ग्रहण कर पूर्व महर्षियों, परमगीतार्थों श्री धर्मदासगणि ने उपदेशमाला और आप्त टीकाकार याकिनीमहत्तरासूनु आचार्य हरिभद्रसूरि ने उपदेशपद आदि ग्रन्थों का निर्माण कर इस परम्परा को विस्तृत रूप से आगे बढ़ाया। इन्हीं आचार्यों के अनुकरण पर प्रस्तुत **धर्मशिक्षाप्रकरण** लिखा गया है। इस प्रकरण के कर्ता भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित विशुद्धाचार के पालक महाकवि श्री जिनवल्लभसूरि हैं।

जिनवल्लभसूरि - परम्परागत श्रुति के अनुसार ये आसिका (हाँसी) के निवासी थे और कूर्चपुर गच्छीय चैत्यवासी श्री जिनेश्वराचार्य के प्रतिभा सम्पन्न शिष्य थे। मेधावी समझकर जिनेश्वराचार्य ने इनको सभी विषयों में पारंगत विद्वान् बनाया। आगम साहित्य ज्ञान की पूर्ति के लिए उन्होंने स्वयं सुविहिताग्रणी नवांगी टीकाकार श्री अभयदेवसूरि के पास जिनवल्लभ को अध्ययनार्थ भेजा। इनकी प्रतिभा, सेवा और लगन देखकर अभयदेवाचार्य भी प्रसन्न हुए और उन्होंने सहर्ष आगमामृत रस का पान कराया। भगवान् महावीर प्रतिपादित आचार धर्म का विशुद्ध प्रतिपालन और सुविहित क्रियाचार सम्पन्न देखकर जिनवल्लभ भी आचार्य अभयदेव के ही बन गये। बन ही नहीं गये, अपितु उनके अन्तरंग शिष्य बनकर उनसे उपसम्पदा प्राप्त की।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रमशः विचरण करते हुए जिनवल्लभगणि चित्तौड़ आये। उनका वैदग्ध्य तथा खरतर/तीक्ष्ण एवं कठोर आचार-व्यवहार देखकर वहाँ के प्रमुख-प्रमुख श्रेष्ठि भी इनके उपासक बन गये। आचार्य जिनेश्वरसूरि द्वारा प्रतिपादित वसतिवास, सुविहित मार्ग, विधि पक्ष का कोई भी जिन मंदिर नहीं था। धार्मिक अनुष्ठानों में भी बाधा पड़ती थी। अतएव जिनवल्लभगणि के उपदेश से तत्रस्थ श्रावकों ने चित्तौड़ में भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर के दो नवीन विधि चैत्य बनवाए और इन दोनों मंदिरों की प्रतिष्ठा भी इन्हीं के हाथों से सम्पन्न करवाई। आचार्य जिनेश्वर ने चैत्यवास का विरोध करने में जिस निषेधात्मक प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया था और जो ज्योति जलाई थी, उस ज्योति को परम ज्योति का रूप देते हुए निषेधात्मक प्रवृत्ति का अवलम्बन लेकर भी विधिमार्ग अर्थात् करणीय मार्ग का प्रतिपादन भी इन्होंने प्रबलता के साथ किया। यही कारण है कि खरतर विरुद प्राप्त होने पर भी आचार्य जिनेश्वर ने स्वयं के लिए सुविहित शब्द का प्रयोग किया और जिनवल्लभ के समय विधि पर अत्यधिक जोर देने के कारण वही सुविहित पक्ष विधि पक्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कालान्तर में यही मार्ग **खरतरगच्छ** के नाम से अभिरूढ़ हो गया।

इनकी असाधारण प्रतिभा, वैदुष्य और आशुकवित्व देख कर मालव और मेदपाटाधिपति महाराज नरवर्म भी उनके प्रशंसक ही नहीं अनुयायी भी बन गये और उन्होंने चित्रकूट में नव-निर्मापित भगवान् महावीर के मंदिर में दान भी दिया।

आचार्य अभयदेवसूरि की अंतरंग अभिलाषा, जिसे कि वे पूर्ण नहीं कर पाये थे, उसे आचार्य अभयदेव और प्रसन्नचन्द्राचार्य के संकेतानुसार महाविद्वान् देवभद्राचार्य ने वि०सं० ११६७ आषाढ़ सुदि ६ के दिन बड़े महोत्सव एवं विधि-विधान के साथ इनको आचार्य पद प्रदान कर आचार्य अभयदेवसूरि का पट्टधर घोषित किया। संयोगवशात वि०सं० ११६७ कार्तिक अमावस्या दीपावली की मध्य रात्रि में इस शरीर को छोड़कर जिनवल्लभसूरि चतुर्थ देवलोक को प्रस्थान कर गये।

अनुमानतः इनका जन्म समय १०९० मान सकते हैं। वि०सं० ११२५ के पूर्व ही ये आचार्य अभयदेव के सम्पर्क में आ गये थे और ११६७ में इनका स्वर्गवास हुआ। अतः इनका समय १०९० से ११६७ के मध्य स्वीकार किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य जिनेश्वरसूरि की पट्ट-परम्परा में जिनचन्द्रसूरि, अभयदेवसूरि और जिनवल्लभसूरि। जिनवल्लभसूरि के पट्टधरों में दादागुरुदेव, युगप्रधान जिनदत्तसूरि, मणिधारी जिनचन्द्रसूरि, जिनपतिसूरि आदि हुए। यह परम्परा आज भी खरतरगच्छ के नाम से अविच्छिन्न रूप चली आ रही है। जिनवल्लभसूरि के सतीर्थ्य भ्राता जिनशेखरसूरि से विक्रम सम्वत् १२०४ में रुद्रपल्लीय शाखा का आविर्भाव हुआ जो १८वीं शताब्दी तक प्रगतिशील रही।

साहित्य-सर्जना - १२वीं शताब्दी के उद्भट विद्वानों और मूर्धन्य आचार्यों में इनकी गणना की जाती है। इनका अलंकार शास्त्र, छन्दशास्त्र, व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष, नाट्यशास्त्र और सैद्धान्तिक विषयों पर एकाधिपत्य था। प्राकृत और संस्कृत भाषा के भी ये प्रौढ़ विद्वान् थे। इन्होंने अपने जीवनकाल में विविध विषयों पर अनेकों ग्रन्थों की रचना की थी। इनमें से वर्तमान में छोटी-मोटी ४५ कृतियाँ उपलब्ध हैं। इन्हें सिद्धान्तवेत्ता, विधिवेत्ता, आचारवेत्ता, स्वप्नशास्त्रवेत्ता, उपदेष्टा, काव्यनिर्माता और स्तोत्रनिर्माता के रूप में माना जाता है। इनके द्वारा निर्मित्त साहित्य और मूर्धन्य टीकाकारों द्वारा रचित टीका साहित्य की सूची संलग्न है।

क्र०	ग्रंथनाम	टीका नाम	टीकाकार	रचना समय
१.	सूक्ष्मार्थविचारसारोद्धार प्रकरण	भाष्य *	अज्ञात कर्तृक	
		टिप्पण *	रामदेवगणि	१२वीं श०
		चूर्णि *	मुनिचन्द्रसूरि	सं० ११७०
		वृत्ति ■	धनेश्वराचार्य	सं० ११७१
		वृत्ति *	महेश्वराचार्य	१२वीं शता०
		वृत्ति *	हरिभद्रसूरि	१२वीं शता०
		वृत्ति *	चक्रेश्वराचार्य	१२वीं शता०
		प्राकृत वृत्ति *	अज्ञात कर्तृक	
		टिप्पणक *	अज्ञात कर्तृक	
२.	आगमिकवस्तुविचारसार प्रकरण	भाष्य *	अज्ञात कर्तृक	
		भाष्य *	अज्ञात कर्तृक	
		टिप्पण *	रामदेवगणि	१२वीं शता०
		वृत्ति■	हरिभद्रसूरि	सं० ११७२
		वृत्ति■	मलयगिरि	१२वीं शता०
		वृत्ति *	यशोभद्रसूरि	१२वीं शता०
		विवरण *	मेरुवाचक	१६वीं शता०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्र०	ग्रंथनाम	टीका नाम	टीकाकार	रचना समय
		टीका *	अज्ञात कर्तृक	
		अवचूरि *	अज्ञात कर्तृक	
		अवचूरि *	अज्ञात कर्तृक	
		उद्धार *	अज्ञात कर्तृक	
३.	सर्वजीवशरीरावगाहना स्तव *			
४.	पिण्डविशुद्धि प्रकरण	वृत्ति■	श्री चन्द्रसूरि	सं० ११७८
		लघु वृत्ति■	यशोदेवसूरि	सं० ११७६
		दीपिका■	उदयसिंहसूरि	सं० १२९५
		टीका *	अजितदेवसूरि	सं० १६२९
		दीपिका *	अज्ञात कर्तृक	
		अवचूरि *	अज्ञात कर्तृक	
		अवचूरि *	अज्ञात कर्तृक	
		पंजिका *	अज्ञात कर्तृक	
		अवचूरि *	श्रीचन्द्र	
		टीका *	अज्ञात कर्तृक	
		टीका *	कनककुशल	
		बालावबोध *	संवेगदेवगणि	सं० १५१३
५.	श्रावकव्रत कुलक *			
६.	पौषधविधि प्रकरण	वृत्ति *	यु० जिनचन्द्रसूरि	सं० १६१७
७.	प्रतिक्रमण समाचारी	स्तबक *	विमल कीर्ति	१७वीं शता०
८.	स्वप्नसप्ततिका	टीका *	सर्वदेवसूरि	१३वीं शता०
९.	द्वादशकुलक	टीका■	जिनपालोपाध्याय	सं० १२९३
१०.	धर्मशिक्षा प्रकरण	टीका *	जिनपालोपाध्याय	सं० १२९३
११.	सङ्घपट्टक	बृहद् वृत्ति■	जिनपतिसूरि	१३वीं शता०
		लघु वृत्ति■	हर्षराजोपाध्याय	१६वींशता
		वृत्ति■	लक्ष्मीसेन	सं० १५१३
		वृत्ति *	विवेकरत्नसूरि	
		अवचूरि ■	साधुकीर्ति उपाध्याय	सं० १६१९
		पंजिका *	देवराज	
		बालावबोध *	लक्ष्मीवल्लभोपाध्याय	१८वीं शता०
१२.	शृङ्गारशतक *			
१३.	प्रश्नोत्तरैकषष्टिशत ❖	टीका *	पुण्यसागरोपाध्याय	सं० १६४०
		अवचूरि *	सोमसुंदरसूरिशिष्य	१६वीं शता०
		अवचूरि *	कमल मंदिरगणि	१७वीं शता०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्र०	ग्रंथनाम		टीका नाम	टीकाकार	रचना समय
			अवचूरि *	मुक्तिचन्द्रगणि	१९वीं शता०
			अवचूरि *	अज्ञात कर्तृक	
			टीका *	अज्ञात कर्तृक	
१४.	अष्टसप्तति अपरनाम चित्रकूटीय-वीर-चैत्य-प्रशस्ति *				
१५.	चित्रकूटीय -पार्श्व-चैत्य -प्रशस्ति*				
१६.	आदिनाथ चरित्र❖		टीका *	साधुसोमोपाध्याय	सं० १५१९
१७.	शान्तिनाथ चरित्र❖		अवचूरि *	कनकसोमोपाध्याय	१७वीं शता०
१८.	नेमिनाथ चरित्र❖	चरित्र पंचक	बालवबोध *	कमलकीर्ति	१७वीं शता०
१९.	पार्श्वनाथ चरित्र❖				
२०.	महावीर चरित्र❖	-	टीका *	समयसुन्दरोपाध्याय	१७वीं शता०
			अवचूरि *	कनककलश गणि	सं० १६०९
			बालावबोध *	विमलरत्न	सं० १८०२
			बालावबोध *	समयसुन्दरोपाध्याय	१७वीं शता०
			बालावबोध *	नयमेरु	सं० १६७८
			स्तबक *	सुमति	१७वीं शता०
२१.	वीर चरित्र (जय भववण०) *				
२२.	चतुर्विंशति जिन स्तोत्राणि (भीमभव०)■				
२३.	चतुर्विंशति जिन स्तुति (मरुदेवि नाभितणयं०) *				
२४.	पञ्च कल्याणक स्तव (सम्मं भुवणिक्क०)■				
२५.	सर्वजिन पञ्च कल्याणक स्तव (पणय सुर०) *				
२६.	प्रथम जिन स्तव (सयल भुवणिक्क०) *				
२७.	लघु अजित शान्ति स्तव (उल्लासिक्कम०)■		टीका■	धर्मतिलकोपाध्याय	सं० १३२२
			टीका *	समयसुन्दोपाध्याय	सं० १६९५
			टीका *	गुणविनयोपाध्याय	१७वीं शता०
			बालावबोध *	उपाध्याय साधुकीर्ति	सं० १६१२
			बालावबोध *	कमलकीर्ति	
			बालावबोध *	देवचन्द्रोपाध्याय	१८वीं शता०
२८.	स्तम्भन पार्श्वजिन स्तोत्र (सिरि भवण०) *				
२९.	क्षुद्रोपद्रवहरपार्श्वजिन स्तोत्र (नमिर सुरासुर०) *				
३०.	महावीर विज्ञप्तिका (सुरनरवर०) *				
३१.	महाभक्तिगर्भा सर्वज्ञविज्ञप्तिका (लोयालोय०) *				
३२.	नंदीश्वर चैत्य स्तव■		टीका *	साधुसोमोपाध्याय	१५वीं शता०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्र०	ग्रंथनाम	टीका नाम	टीकाकार	रचना समय
	(वंदिय नंदिय०)			
३३.	भावारिवारण स्तोत्र■ (भावारिवारण०)	टीका■	जयसागरोपाध्याय	१५वीं शता०
		टीका *	मेरुसुन्दरोपाध्याय	१५वीं शता०
		टीका *	क्षेमसुन्दरोपाध्याय	१५वीं शता०
		टीका *	चारित्रवर्धन	१५वीं शता०
		टीका *	मतिसागर	१५वीं शता०
		अवचूरि *	अज्ञात कर्तृक	
		बालावबोध *	मेरुसुन्दरोपाध्याय	
		पादपूर्तिस्तोत्र■	पद्मराजगणि	सं० १६५९
३४.	पञ्चकल्याणक स्तोत्र (प्रीतिप्रसन्न०) *			
३५.	कल्याणक स्तव (पुरन्दर पुर०)*			
३६.	सर्वजिन स्तोत्र (प्रीतिप्रसन्न०)*			
३७.	पार्श्वजिन स्तोत्र (नमस्यद्गीर्वाण०)*			
३८.	पार्श्वजिनस्तोत्र (पायात्पार्श्व०)*			
३९.	पार्श्वजिन स्तोत्र (देवाधीश०)*			
४०.	पार्श्वजिन स्तोत्र (समुद्यन्तो०)*			
४१.	पार्श्वजिन स्तोत्र (विनयविनमद्०)*			
४२.	पार्श्वजिन स्तोत्र चित्रकाव्यात्मक (शक्तिशूलेषु०)*			
४३.	पार्श्वजिन स्तोत्र चकाष्टक (चक्रे यस्य नतिः)*			
४४.	सरस्वती स्तोत्र (सरभसलसद्०)■			
४५.	नवकार स्तव (किं किं कप्पतरु०)■			

भारतीय साहित्य में यह असाधारण घटना है कि किसी कवि/लेखक की रचना पर उनके स्वर्गवास के एक वर्ष के पश्चात् से ही वि०सं० ११७० से १८०० तक बृहद्गच्छीय, चन्द्रकुलीय, चन्द्रगच्छीय, राजगच्छीय, तपागच्छीय, खरतरगच्छीय, आप्त एवं धुरंधर आचार्यों/विद्वानों ने जिनवल्लभ के १४ ग्रंथों पर ७३ टीकाओं की रचना की हैं। अज्ञात कर्तृक १४ संख्या कम करने पर भी मुनिचन्द्रसूरि,

---

■ चिह्नान्तर्गत ग्रंथ विविध संस्थाओं से प्रकाशित हैं। प्रकाशन संस्थाओं के नाम के लिए वल्लभ-भारती प्रथम खण्ड देखें।

* चिह्नान्तर्गत ग्रंथ अद्यावधि अप्रकाशित हैं।

❖ चिह्नान्तर्गत मूल ग्रंथ प्रकाशित हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धनेश्वरसूरि, महेश्वराचार्य, चक्रेश्वराचार्य, मलयगिरि, यशोदेवसूरि, यशोभद्रसूरि, उदयसिंहसूरि, अजितदेवसूरि, जिनपतिसूरि, जिनपालोपाध्याय, युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि, संवेगदेवगणि आदि साक्षर विद्वानों ने अपनी-अपनी टीकाओं में नवांगी टीकाकारक अभयदेवसूरि के शिष्य 'जिन' अर्थात् जिनेश्वरों के 'वल्लभ' अर्थात् अत्यन्त प्रिय जिनवल्लभसूरि को सिद्धांतविद् एवं आप्त मानते हुए टीकाओं के माध्यम से अपनी भावांजली प्रस्तुत की है।

जिनवल्लभसूरि का भाषा ज्ञान और शब्द कोश अक्षय था। वे प्राकृत और संस्कृत भाषा के उच्चकोटि के विद्वान् थे और इन भाषाओं पर उनका पूर्ण प्रभुत्व था।

आचार्य जिनवल्लभ का संक्षिप्त जीवन परिचय, जिनवल्लभसूरि द्वारा स्वप्रणीत अष्टसप्तति, जिनपालोपाध्याय प्रणीत खरतरगच्छालंकार युगप्रधानाचार्य गुर्वावली और मेरे (महोपाध्याय विनयसागर) द्वारा लिखित वल्लभभारती प्रथम खण्ड और द्वितीय खण्ड की भूमिका के आधार से लिखा गया है।

धर्मशिक्षाप्रकरण - आत्मा परकीय/वैभाविक दुर्गुणों से पतन की अग्रसर होती है और स्वाभाविक गुणों को प्राप्त कर श्रेयस् मार्ग की ओर अग्रसर होती है। वह श्रेयस् मार्ग ही धर्म कहा गया है। देव, गुरु और धर्म तत्त्व को समझ कर, सद्गुरुओं के उपदेश का अवलम्बन लेकर जीवन के आचार और व्यवहार में अनुशासित/शिक्षित होकर श्रेयों मार्ग की ओर बढ़ना ही धर्म शिक्षा है।

यह उपदेशिक लघु काव्य है। गम्भीर विषय होने पर भी भद्यप्रतिपादक संक्षिप्त किन्तु सरल प्रौढ़ होने पर भी प्राञ्जल भाषा में यह श्रेष्ठ रचना है। इसमें मात्र ४० श्लोक है। सिद्धहस्त कवि ने अनुप्रास, उपमा और रूपक आदि अलंकारों का आश्रय लेकर गौडी, वैदर्भी, माधुरी आदि वृत्तियों का इसमें सफलता के साथ संयोजन किया है। लघु कृति होते हुए भी कवि ने इस काव्य की अधिकांश रचना शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा छन्द में की है। बीच-बीच में मालिनि, शिखरिणी और पृथ्वी छन्द भी इसमें मौक्तिकों की तरह जड़े हुए है।

साराशं - प्रथम पद्य में कवि वीतरागी जिनेन्द्र देव को नमस्कार कर प्रस्तुत प्रकरण करने की प्रतिज्ञा करता है। रससिद्ध कवि चित्रकाव्य प्रेमी होने के कारण प्रथम पद्य में ही षडरक चक्रबद्ध काव्य में ''जिनवल्लभगणिवचनमिदम'' कवि अपना नाम प्रयुक्त करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे पद्य में इस संसार समुद्र में मनुष्य जीवन अत्यन्त दुर्लभ है। चोल्लकादि १० दृष्टान्तों पर उल्लेख करते हुए मानवत्व की दुर्लभता, श्रेष्ठ कुल, क्षेत्र और धर्म स्वरूप प्राप्ति को अति दुष्कर बतलाया है।

तीसरे पद्य में प्रस्तुत ग्रंथगत प्रतिपाद्य १८ विषयों की सूची प्रदान की है, जो निम्न हैं- १. चैत्य भक्ति का उल्लेख होने से मंदिर में विराजमान जिनेश्वर देवों की मूर्ति/प्रतिमा की पूजा-अर्चना, स्तवना करनी चाहिए। २. कर्मों की निर्जरा के लिए शक्ति के अनुसार आडम्बर रहित होकर भावों की वृद्धि करते हुए बारह प्रकार का तप करना चाहिए। ३. सद्गुणों से अलंकृत गुणिजनों के सम्पर्क में रहना चाहिए। ४. अर्थ दोष को ध्यान में रखते हुए धन के प्रति विरक्ति अर्थात् आसक्ति या मूर्छा नहीं रखनी चाहिए। ५. भगवत् प्ररूपित नव तत्त्वों पर श्रद्धा रखनी चाहिए। ६. सद्गुरुओं के प्रति अटूट विश्वास रखना चाहिए। ७. संसार में भ्रमण का कारण भव समुद्र से भय रखना चाहिए। ८. आत्मनिधि- उत्तम गुणों का विकास, परोपकार, सत्कार, आगमकालिक चिन्तन, आत्म प्रशंसा का परिहार, लोकप्रियता, प्रेमालाप आदि नीतिगुणों का अनुसरण करना चाहिए। ९. अशान्तिकारक कारणों को दूर कर जीवन में क्षमा धारण करनी चाहिए। १०. इन्द्रियों के सम्पर्क से ही कर्मों की बढ़ोत्तरी होती है अतः इन्द्रियों का दमन करना चाहिए। ११. आत्म-शान्ति के विकास के लिए अंतरंग शत्रु क्रोधादि का नियमन करना चाहिए। १२. संसार के समस्त पदार्थ सुख के द्योतक नहीं, सुखाभास के द्योतक है अतः इनकी चंचलता को ध्यान में रखकर सुखरति की प्राप्ति हो इसका ध्यान रखना चाहिए। १३. संसारवर्द्धक कामिनियों का त्याग करना चाहिए। १४. अट्ठारह दोष रहित आप्त पुरुषों की वाणी में भ्रान्ति रहित होकर विश्वास करना चाहिए। १५. सिद्धान्तों को जानने की जिज्ञासा और प्रयत्न करना चाहिए। १६. न्यायोपार्जित द्रव्य का सुपात्रादि में सद्उपयोग करते हुए दान देना चाहिए। १७. शास्त्र-विहित विनय गुण को जीवन में धारण करना चाहिए। १८. ज्ञान के प्रति श्रद्धा से श्रुतलेखन इत्यादि में अपना धन व्यय कर विद्वद् जनों को शास्त्रादि प्रदान करना चाहिए।

उक्त १८ विषयों का २-२ श्लोकों में उनके दोषों को दिखाते हुए करणीय कर्त्तव्यों का विशिष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है। अंतिम ४०वें पद्य में उपसंहार करते हुए कवि कहता है कि जो भव्यजन उक्त प्रतिपादित शिक्षा को धारण कर जीवन में उतार लेता है, वह अनर्थकारी भवरूपी वृक्ष को जड़ मूल से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जला देता है और सुरासुराधिपति एवं चक्रवर्ति आदि द्वारा नमस्करणीय श्रेष्ठतम जिनेन्द्र पद को प्राप्त कर मुक्ति वधु के साथ विलास करता है।

प्रारम्भ के प्रथम पद्य के समान ही कवि चातुर्यपूर्वक चक्रबन्ध काव्य के द्वारा श्लोक के तीन चरणों में "गणिजिनवल्लभवचनमदः" अंकित कर अपना नाम का उल्लेख कर देता है।

टीकाकार जिनपालोपाध्याय - जिनपालोपाध्याय ग्रन्थ-धर्मशिक्षाकार जिनवल्लभसूरि के प्रपौत्र शिष्य हैं अर्थात् जिनवल्लभसूरि के पट्टधर क्रमशः दादा जिनदत्तसूरि, मणिधारी जिनचन्द्रसूरि और जिनपतिसूरि के शिष्य हैं। जिनपालोपाध्याय स्वप्रणीत खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि में यत्र-तत्र स्वयं के सम्बन्ध में जो उल्लेख हैं वे निम्न हैं:- विक्रम सम्वत् १२२५ पुष्कर में जिनपतिसूरि ने इनको दीक्षा प्रदान कर इनका नाम जिनपाल रखा था। (पृष्ठ ४४) सम्वत् १२५१ में कुहियप ग्राम में जिनपतिसूरि ने ही इन्हें वाचनाचार्य पद प्रदान किया था। (पृष्ठ ४४) विक्रम सम्वत् १२६९ में जाबालीपुर जालौर के विधिचैत्य में जिनपतिसूरि ने ही जिनपाल को उपाध्याय पद प्रदान किया (पृष्ठ ४७)। विक्रम सम्वत् १२७७ में आषाढ़ सुदि १० के दिन गच्छनायक जिनपतिसूरि का स्वर्गवास हो जाने के बाद गच्छ की धुरी को सम्भालने वाले प्रमुख श्रमणों में आप भी थे (पृष्ठ ४८)। सम्वत् १२७१ माघ सुदि ६ जाबालीपुर के महावीर चैत्य में श्री जिनेश्वरसूरि के पद-स्थापन महोत्सव के समय जिनपाल भी उपस्थित थे (पृष्ठ ४८)। सं० १२८८ आश्विन शुक्ला १० को प्रह्लादनपुर में राजपुत्र श्री जगसिंह के सान्निध्य में साधु भुवनपाल ने स्तूप (संभवतः जिनपतिसूरि का समाधिस्थल) पर ध्वजारोहण प्रतिष्ठा का महा-महोत्सव जिनपालोपाध्याय के करकमलों से कराया था (पृष्ठ ४९)। सं० १३११ प्रह्लादनपुर में जिनपालोपाध्याय का स्वर्गवास हुआ (पृष्ठ ५०)।

जिनपाल की दीक्षाग्रहण के पूर्व कम से कम ८ या १० वर्ष की अवस्था भी आंकी जाय, तो इनका जन्म सं० १२१५ या १२१७ के आस-पास स्वीकार किया जा सकता है। इनका स्वर्गगमन १३११ में निश्चित है अतः आपकी पूर्णायु शतायु के निकट ही थी।

पुष्कर में दीक्षा होने से संभव है जिनपाल पुष्कर या निकटस्थ राजस्थान प्रदेश के ही निवासी हों। खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि (पृष्ठ ४४ से ४६) स्वयं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनपालोपाध्याय उल्लेख करते हैं - १२७३ में बृहद्वार में लोकप्रसिद्ध गंगा दशहरा पर गंगा स्नान करने के लिए बहुत से राणाओं के साथ महाराजाधिराज श्री पृथ्वीचन्द्र भी आए हुए थे। उनके साथ में मनोदानंद नामक एक काश्मीरी पण्डित भी था। उसके साथ "जैन लोग षड्दर्शनों से बहिर्भूत हैं।" इस पर शास्त्रार्थ हुआ था। आचार्य जिनपतिसूरि की आज्ञा से जिनपालोपाध्याय ही राज्यसभा में गये थे और शास्त्रार्थ कर उस पर विजय प्राप्त की थी। इस शास्त्रार्थ का उल्लेख चन्द्रतिलकोपाध्याय ने भी अभयकुमार चरित्र (रचना सम्वत् १३१२) में किया है।

जिनपालोपाध्याय न्याय, दर्शन, साहित्य और जैनागमों के प्रौढ़ विद्वान् थे। शास्त्रार्थ करने में भी अत्यन्त पटु थे। आपकी प्रतिभा की प्रसंशा करते हुए आपके ही सतीर्थ्य (गुरुभ्राता) सुमतिगणि गणधरसार्द्धशतक की बृहद् वृत्ति (रचना सम्वत् १२९५) के मंगलाचरण में ही इनकी स्तुति की है। चन्द्रतिलकोपाध्याय और प्रबोधचन्द्रगणि आदि ने इनको विद्या-गुरु के रूप में स्वीकार किया है। गच्छ में ज्ञान-वृद्ध, दीक्षा-वृद्ध, अवस्था-वृद्ध होने के कारण ये गच्छ के आर्दशभूत थे, इसलिए इन्हें महोपाध्याय पद से सम्बोधित करते थे।

साहित्य - जिनपालोपाध्याय को महाकवि के रूप में प्रतिष्ठित करने वाली इनकी एक मात्र रचना है- **सनत्कुमारचक्रिचरितमहाकाव्यम्**। स्वोपज्ञ टीका के साथ इन्होंने इसकी रचना वि०सं० १२५१ और १२६९ के मध्य में की थी। यह महाकाव्य महाकवि माघ रचित शिशुपालवध महाकाव्य की कोटिका है। महाकाव्य के मूल की वि०सं० १२७८ में कागज पर लिखित एक मात्र प्रति जैसलमेर, श्री जिनभद्रसूरि ज्ञान भण्डार में सुरक्षित है। स्वोपज्ञ टीका की प्रति आज तक अनुपलब्ध है। श्री सुमतिगणि ने गणधरसार्द्धशतक की बृहद् वृत्ति में यह उल्लेख अवश्य किया है कि कवि ने यह काव्य टीका सहित बनाया है। कवि ने स्वयं धर्मशिक्षाप्रकरण की प्रशस्ति पद्य में इसकी ओर संकेत अवश्य किया है। यह महाकाव्य मेरे द्वारा विस्तृत भूमिका के साथ सम्पादित होकर राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से विक्रम सम्वत् १९६९ में प्रकाशित हो चुका है।

जिनपालोपाध्याय न केवल वादीभपञ्चानन ही अपितु प्रतिभासम्पन्न महाकवि एवं प्रौढ तथा सफल टीकाकार भी। वर्तमान में उपलब्ध आपके द्वारा रचित साहित्य का संवतानुक्रम से संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. **षट्स्थानक-प्रकरण-वृत्तिः** - इस ग्रंथ के मूलकर्ता खरतरगच्छीय जिनेश्वरसूरि प्रथम हैं। मूल ग्रंथ प्राकृत में है। सं० १२६२ माघ शुक्ला ८ को श्रीमालपुर में इस टीका की रचना हुई है। इस टीका का संशोधन स्वयं आचार्य जिनपतिसूरि ने किया है। श्लोक परिमाण १४९४ है। यह टीका जिनदत्तसूरि ज्ञानभण्डार सूरत से प्रकाशित हो चुकी है।

२. **उपदेशरसायन-विवरणम्** - इस अपभ्रंशभाषा में ग्रथित लघु-काव्य के प्रणेता युगप्रधान जिनदत्तसूरि हैं। पद्धटिका छन्द में ८० पद्य हैं। इस पर गणनायक जिनेश्वरसूरि द्वितीयके आदेश से विवरण की रचना सं० १२९२ में हुई है। विवरण का श्लोक परिमाण ४७९ है। यह विवरण अपभ्रंश काव्यत्रयी में ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट बड़ौदा से प्रकाशित हो चुका है।

३. **द्वादशकुलक-विवरणम्** - इस ग्रंथ के प्रणेता आचार्य जिनवल्लभसूरि हैं। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें बारह कुलक हैं। प्राकृत भाषा में रचित यह औपदेशिक ग्रंथ है। इस पर गणनायक जिनेश्वरसूरि (द्वितीय) के निर्देश से सं० १२९३ भाद्रपद शुक्ला १२ को प्रस्तुत टीका की रचना पूर्ण हुई है। टीका विशद-विवेचनयुक्त है। इस टीका का ग्रंथाग्रं ३३६३ है। यह टीका जिनदत्तसूरि-ज्ञान-भण्डार सूरत से प्रकाशित हो चुकी है।

४. **पञ्जलिङ्की-विवरण-टिप्पणम्** - श्री जिनेश्वरसूरि (प्रथम)-रचित इस ग्रन्थ पर युगप्रवरागमजिनपतिसूरि ने बृहद्वृत्ति की रचना की। इस बृहट्टीका में यत्र-तत्र क्लिष्ट एवं दुर्बोध शब्दों का व्यवहार हुआ है। उसी पर यह टिप्पणक है। इस टिप्पणक का रचना-काल पं० लालचन्द्र भगवानदास गान्धी ने अपभ्रंश-काव्यत्रयी की भूमिका (पृ० ६९) में १२६३ माना है। यह टिप्पणक बृहट्टीका के साथ जिनदत्तसूरि-ज्ञान-भण्डार सूरत से प्रकाशित है। मुद्रित संस्करण में प्रशस्ति नहीं है।

५. **चर्चरीविवरणम्** - युगप्रधान जिनदत्तसूरि ने बाग्जड-देशस्थित व्याघ्रपुर में इसकी रचना की है। अपभ्रंश-भाषा का यह गेयकाव्य है, इसमें ४७ पद्य हैं। इसमें विधिपक्ष का दृढता से समर्थन किया गया है। इस पर सं० १२९४ चैत्र कृष्णा ३ को जिनेश्वरसूरि द्वितीय के निर्देश से इस टीका की रचना हुई है। टीका की भाषा प्रौढ एवं प्राञ्जल है। यह टीका भी अपभ्रंशकाव्यत्रयी में ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट बड़ौदा से प्रकाशित हो चुकी है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६. खरतरगच्छालङ्कार-युगप्रधानाचार्य-गुर्वावली - जिनपालोपाध्याय की सम्भवतः यह अंतिम रचना है। यह एक ऐतिहासिक एवं महत्त्वपूर्ण कृति है। खरतरगच्छ के आचार्य वर्द्धमानसूरि, जिनेश्वरसूरि, जिनचन्द्रसूरि; अभयदेवसूरि, जिनवल्लभसूरि, जिनदत्तसूरि एवं मणिधारी जिनचन्द्रसूरि के जीवन-चरितों का आलेखन लेखक ने गुरु-परम्परा से श्रुत-आख्यानों पर किया है किन्तु सं० १२२५ से सं० १३०५ आषाढ शुक्ला १० तक आचार्य जिनपतिसूरि एवं जिनेश्वरसूरि (द्वितीय) का व्यक्तित्व एवं कृतित्व का दर्शन आँखों-देखी घटनाओं के आधार पर किया है। संवतानुक्रम से प्रत्येक विशिष्ट घटनाओं का उल्लेख इसमें किया गया है। यह कृति मानों जिनपालोपाध्याय की दफ्तर-बही (दैनिक डायरी) हो। गुर्वावली की घटनाओं को देखते हुए यह माना जा सकता है कि जिनपाल प्रायः जिनपतिसूरि के साथ रहे हों और पृथ्वीराज चौहान आदि की सभा में शास्त्रार्थ के समय में भी मौजूद हो! अन्यथा ऐसा आँखों-देखा सजीव वर्णन सम्भव नहीं हो सकता।

इस गुर्वावली में अन्तिम प्रसंग १३०५ आषाढ शुक्ला १० का है, पश्चात् लेखक ने प्रशस्ति दे दी है। अतः इसका रचना-समय १३०५ स्वीकार किया जा सकता है। ढिल्ली (दिल्ली) - वास्तव्य साधु साहुलि के पुत्र साधु हेमा की अभ्यर्थना से जिनपाल ने इसकी रचना की है। यह ग्रंथ सिंघी जन ज्ञानपीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई से मुद्रित हो चुका है। इसका द्वितीय संशोधित संस्करण मेरे द्वारा सम्पादित होकर प्राकृत भारती अकादमी की ओर से २००० में प्रकाशित हो चुका है। इसकी एकमात्र प्रति क्षमाकल्याण-भण्डार बीकानेर में है।

७. स्वप्नविचार - प्राकृत-भाषा में २८ गाथायें है। इसमें श्रमणभगवान् महावीर के समय में मध्यमपापा के राजा हस्तिपाल ने जो ८ स्वप्न देखे उनका फल दिखाया गया है। अप्रकाशित है। राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, शाखाकार्यालय बीकानेर, श्रीपूज्य श्रीजिनचारित्रसूरि-संग्रह-ग्रंथांक २९४, लेखन सं० १४१८ की प्रति में यह कृति प्राप्त है।

८. स्वप्नविचार-भाष्य -जैन ग्रन्थावली में लिखा है कि इसकी भाषा प्राकृत है, ग्रंथाग्रन्थ ८७५ है और इसकी प्रति पाटण-भण्डार नं० ५ में है। यह प्रकाशित है।

९. संक्षिप्त पौषधविधिप्रकरण - यह प्राकृत-भाषा में १५ आर्याओं में ग्रथित है। इसमें श्रावक के पौषध ग्रहण करने की विधि प्रतिपादित हे। इसकी प्रेसकॉपी श्रीअभय जैनग्रन्थालय, बीकानेर में है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१०. जिनपतिसूरि-पञ्चाशिका - कृति के नाम से ही स्पष्ट है कि कवि ने अपने गुरु जिनपतिसूरि की स्तवना के रूप में इसकी रचना की है। यह कृति अप्राप्त है। श्री अगरचन्दजी नाहटा के कथनानुसार जैसेलमेर ज्ञानभण्डारस्थ सं० १३८४ की लिखित स्वाध्याय पुस्तिका की विषयसूची में इसका उल्लेख था।

११. धर्म शिक्षा विवरण - आचार्य जिनवल्लभसूरि रचित इस औपदेशिक ४० पद्यात्मक लघु काव्य पर जिनपालोपाध्याय ने विस्तृत वृत्ति लिखी है। रचना-प्रशस्ति के अनुसार इस वृत्ति की विक्रम सम्वत् १२९३ पोष शुक्ला पूर्णिमा को हुई है (श्लोक १)। तत्कालीन गच्छनायक श्री जिनेश्वरसूरि के आदेश से इसकी रचना हुई है (श्लोक ९)। प्रशस्ति श्लोक २ से ८ तक अपनी पूर्व गुरु-परम्परा का उल्लेख करते हुए जिनपालोपाध्याय लिखते हैं - आचार्य वर्द्धमानसूरि हुए उनके शिष्य जिनेश्वरसूरि हुए, जिन्होंने राज्यसभा में प्रतिवादियों को पराजित किया और जो सिद्धान्त एवं तर्क शास्त्र के महाविद्वान् हैं। इनके दो शिष्य हुए - जिनचन्द्रसूरि और अभयदेवसूरि। अभयदेवसूरि के शिष्य जिनवल्लभसूरि हुए, जिन्होंने इस धर्मशिक्षाप्रकरण की रचना की। इनके पट्टधर क्रमशः जिनदत्तसूरि, जिनचन्द्रसूरि और जिनपतिसूरि हुए। जिनपतिसूरि वादियों का मर्दन करने वाले वाद-विजेता हैं। इन्ही जिनपतिसूरि के शिष्यलेश जिनपाल ने गच्छनायक जिनेश्वरसूरि के आदेश से इस वृत्ति की रचना की है। दसवें पद्य में "नव्यकाव्यप्रबन्ध" कहकर सम्भवतः जिनपालोपाध्याय ने स्वप्रणीत सनत्कुमारचक्रिचरित महाकाव्य की ओर संकेत किया है।

यह वृत्ति खण्डान्वय शैली में लिखी गई हैं। श्लोकगत प्रत्येक शब्द की व्याख्या विशद होते हुए भी सरल शैली में की गई है। श्लोक २ की व्याख्या में मनुष्य जन्म की दुर्लभता को उजागर करते हुए ग्रंथान्तरों के उद्धरण देते हुए विशेष विवेचन किया है। तत्त्वों में प्रतीति संज्ञक अधिकार में जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वों का विवेचन बड़े विस्तार से किया है। "तत्त्व दो है, नव है या सात है।" इस प्रश्न को उठा कर शास्त्रीय आधारों को समक्ष रखते हुए प्रत्येक तत्त्व पर अपने विचार प्रस्तुत किये है। ऐसा प्रतीत होता है कि टीकाकार ने कर्मप्रकृति और नवतत्त्व-वृत्ति के आधार पर नौ तत्त्वों पर एक स्वतंत्र विवरण ही नहीं लिख दिया हो! इस ग्रंथ की टीका तीसरा हिस्सा तो केवल यह विवेचन ही है। गहण दार्शनिक विवेचन होने के कारण भाषा में प्रौढ़ता अधिक होते हुए भी प्रवाहमय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीका की भाषा सरल, सुबोध होते हुए भी प्रौढ़ और प्राञ्जल है। प्रत्येक वस्तु को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि पाठक ग्रंथकार के मानस को और विषय के स्वरूप को सहज भाव से समझ सकें, यह ध्यान टीकाकार ने विशेष रूप से रखा है। यत्र-तत्र प्राचीन सैद्धान्तिक शास्त्रों और व्याकरण तथा अलंकार शास्त्रों के उद्धरण भी अंकित किये हैं। यह विवरण वस्तुतः पठनीय है। इस ग्रंथ पर इसके अतिरिक्त कोई विवरण प्राप्त नहीं है।

प्रति परिचय - धर्मशिक्षावृत्ति की एक मात्र दुर्लभ प्रति श्री जिनभद्रसूरि ज्ञान भण्डार, जैसलमेर की है। सन् १९५२ में आगम प्रभाकर पूज्य मुनिराज श्री पुण्यविजयजी महाराज (स्वर्गीय) से प्राप्त की थी। वर्षों तक मेरे पास रही। सन् १९८६ में जैसलमेर के इस भण्डार के अध्यक्ष को वापिस प्रदान कर दी थी।

इस ग्रन्थ की पत्र सं० ४५ से ६४ अर्थात् १९ पत्रात्मक है। इसकी साईज २५.८×११ से०मी है। प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या २१ है और प्रति पंक्ति अक्षर संख्या ६२-६४ है। प्रति में लेखन सम्वत् नहीं दिया गया है किन्तु कागज और स्याही और लिपि को देखते हुए विक्रम के १५ शताब्दी के अंतिम चरण और १६वीं शताब्दी के मध्य की है। पत्र के मध्य में गोलाकार शब्द दिया गया है और पत्र के दोनों ओर पत्रांक के स्थान पर लाल स्याही से गोल बिन्दु दिया गया है। पत्र के किनारे पर श्रीधर्मशिक्षावृत्तिः लिखा गया है। प्रति का एक अर्थ का किनारा कटा हुआ है। यह प्रति अत्यन्त शुद्ध है। कही कही किनारे पर टिप्पणियाँ भी लिखी हुई है। पत्र संख्या ६४ बी पर भिन्नाक्षर-लिपि में प्रतिगृहीता की पुष्पिका दी गई है। इस पुष्पिका में लिखा गया है - विक्रम सम्वत् १६०० माघ सुदि ७ के दिन जैसलमेर महादुर्ग श्री बृहद् खरतरगच्छीय श्री जिनमाणिक्यसूरि के विजय राज्य में श्री सागरचन्द्रसूरि के संतानीय वाचनाचार्य महिमराजगणि के शिष्य > वाचक दयासागरगणि के शिष्य > वाचनाचार्य ज्ञानमंदिरगणि के शिष्य > श्री देवतिलकोपाध्याय ने पंडित विजयराज, पं० नयसमुद्रगणि और क्षुल्लकपद्ममंदिर आदि शिष्य परिवार के साथ इस धर्मशिक्षाप्रकरणवृत्ति की प्रति पठनार्थ ग्रहण की।

पूर्ण पुष्पिका इस प्रकार है:-

॥ र्द० ॥ सम्वत् १६०० वर्षे माघ सुदि ७ वासरे श्रीजैसलमेरु- महादुर्गे श्रीजिनमाणिक्यसूरिविजयिराज्ये श्रीमच्छ्रीसागरचन्द्रसूरिसूरिस्वरान्वये वाचनाचार्यवर्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म शिक्षा प्रकरण - वृत्ति सहित

प्रथम पृष्ठः (४५A)

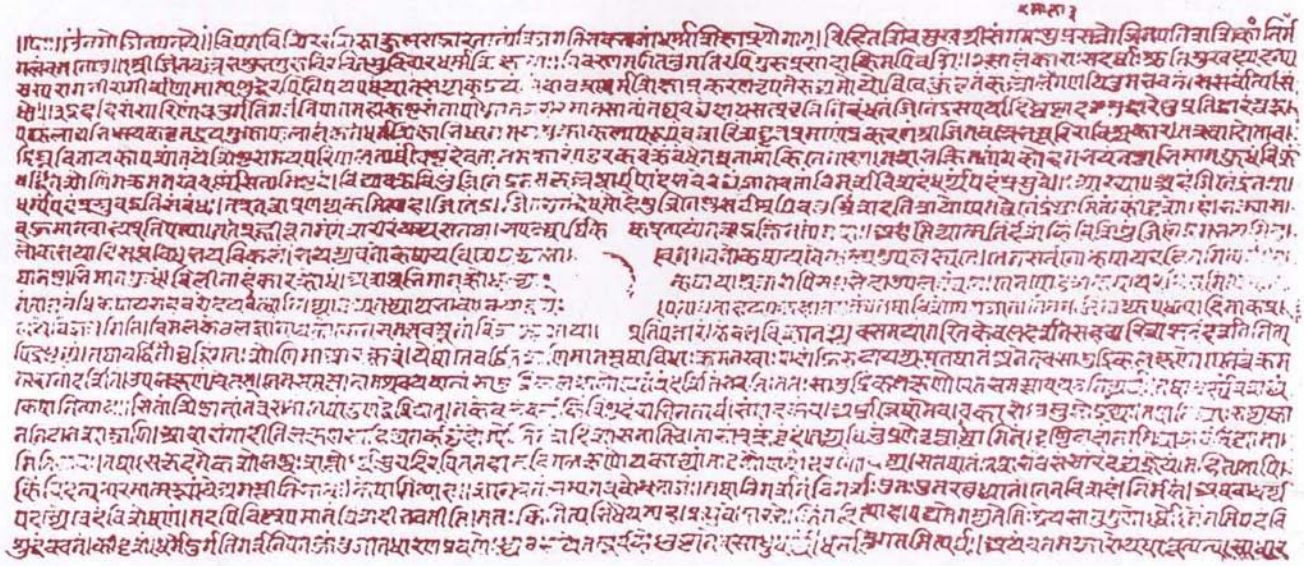

४५A

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

धर्म शिक्षा प्रकरण - वृत्ति सहित, अन्तिम पृष्ठः (६४A एवं ६४B)

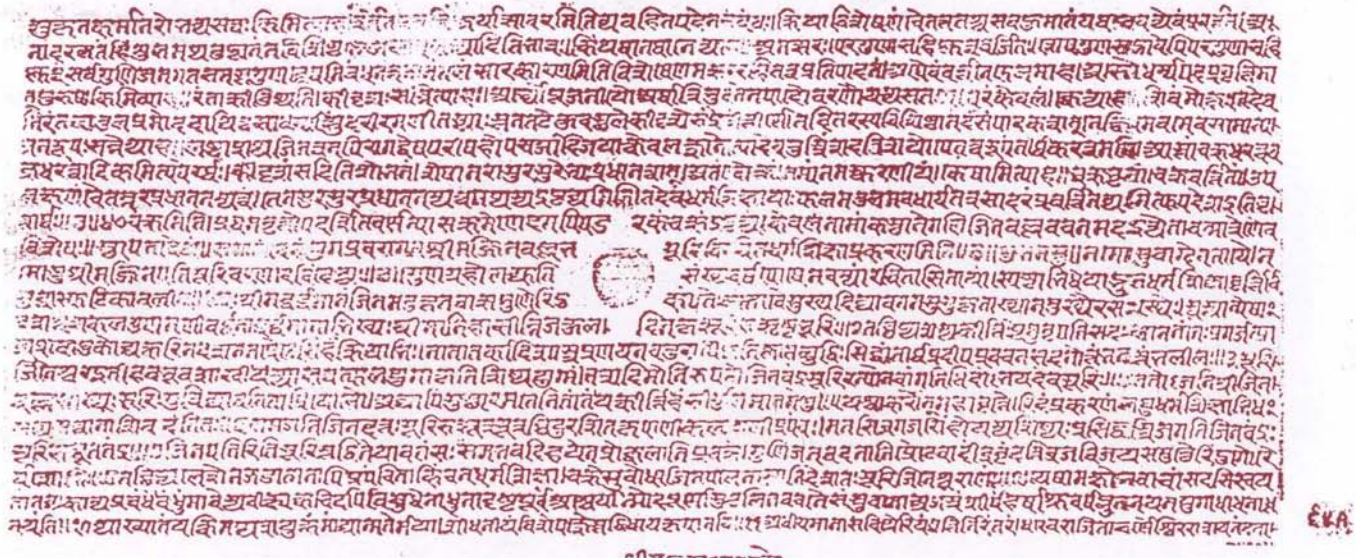

६४A

श्रीइष्टदेवतरत्नेभ्यो

श्रीधर्म शिक्षा प्रकरण

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

महिमराजगणि तत्शिष्यरत्न वा० दयासागरगणि शिष्यप्रवर वा० ज्ञानमन्दिरगणीनां शिष्यशिरोमणि श्रीदेवतिलकोपाध्यायैः पं० विजयराजमुनि पं० नयसमुद्रगणि पं० पद्ममंदिर-क्षुल्लकादि शिष्यसुपरिवारसहितैः श्री धर्मशिक्षाप्रकरणवृत्तिर्गृहीता वाच्यमाना चिरं नंदतु॥ श्रीरस्तुः॥

इसकी दूसरी प्रति आज तक प्राप्त नहीं हुई है। किसी शोध विद्वान् को प्राप्त हो तो सूचित करने का कष्ट करें।

प्रकाशन का इतिहास - सन् १९५२ में जब मैं आचार्य जिनवल्लभसूरि के साहित्य पर शोध प्रबन्ध लिख रहा था, उसी समय आगम प्रभाकर मुनिराज (स्वर्गीय) श्री पुण्यविजयजी महाराज के सहयोगी श्री नगीन भाई से इसकी पाण्डुलिपि भी तैयार करवाई थी, सम्पादन भी किया था। इसको शीघ्र ही प्रकाशित करने की मेरे अभिलाषा थी, किन्तु वह प्रेसकॉपी भी पानी से भीग जाने के कारण समय पर पूर्ण न हो सकी।

वि०सं० २००३ में श्रद्धेय प्रवर आगमज्ञ पूज्य मुनिराज श्री जम्बूविजयजी महाराज ने वल्लभ-भारती प्रथम खण्ड का अवलोकन करने के पश्चात् वल्लभ-भारती का द्वितीय खण्ड और प्रस्तुत धर्मशिक्षावृत्ति के प्रकाशन की ओर संकेत किया है। संकेत ही नहीं पूज्यश्री ने आदेशात्मक निर्णय भी दिया - "इस ग्रंथ का प्रकाशन शीघ्र करो, प्रकाशन में अर्थ सहयोग के रूप में उनका निर्देश था कि श्री सिद्धि-मनोहर-भुवन ट्रस्ट भी इसमें सहयोग देगा और प्राकृत भारती से भी सहयोग के लिए प्रयत्न करो" इस आदेश के फलस्वरूप मैंने प्रयत्न किया और मुझे प्रसन्नता है कि प्राकृत भारती अकादमी एवं एम०एस०पी०एस०जी० चेरिटेबल ट्रस्ट ने भी संयुक्त प्रकाशन के लिए स्वीकृति प्रदान की। यह धर्मशिक्षाप्रकरण वृत्ति सहित चारों संस्थाओं के संयुक्त प्रकाशन के रूप में प्रकाशित हो रहा है। सन् १९५२ का कार्य ५३ वर्ष बाद मेरे हाथों ही प्रकाशित हो, तो मेरे लिए हर्ष विषय है।

आभार

पूज्य प्रवर आगमवेत्ता श्री जम्बूविजयजी महाराज का उपकार मैं किन शब्दों में व्यक्त करूँ, उन्हीं की सतत प्रेरणा और सहयोग से यह यह ग्रन्थ प्रकाशित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो रहा है। सतत सहयोग और प्रेरणा ही नहीं अपितु अपने विद्वत् शिष्यों के साथ इस पुस्तक का पूर्णरूपेण संशोधन करके मुझे कृतार्थ किया है, अतः मैं उनके प्रति श्रद्धावनत हूँ।

श्री डी०आर० मेहता संस्थापक, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, व्यवस्थापक, श्री सिद्धि मनोहर भुवन प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद, श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर और मँजुल जैन, मैनेजिंग ट्रस्टी, एम०एस०पी०एस०जी० चेरिटेबल ट्रस्ट, जयपुर के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ कि इन चारों ट्रस्टों के संयुक्त प्रकाशन से यह ग्रंथ पाठकों के कर-कमलों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

अन्त में, मेरे परमपूज्य गुरुदेव खरतरगच्छालङ्कार गीतार्थ-प्रवर आचार्यश्रेष्ठ स्व० श्री जिनमणिसागरसूरिजी महाराज के वरद आशीर्वाद का ही प्रताप है कि मैं इस प्रस्तुत धर्मशिक्षा-प्रकरण का सम्पादन करने की क्षमता प्राप्त कर सका।

मेरे लेखन, संशोधन, सम्पादन आदि कार्यों में आयुष्मान मंजुल जैन और उसकी धर्मपत्नी अखण्ड सौभाग्यवती नीलम जैन, पुत्र विशाल जैन, पौत्री तितिक्षा जैन और पौत्र वर्धमान जैन का निरन्तर अविच्छिन्न रूप से सहयोग रहा है अतः इन सब के प्रति मेरी अन्तरंग हार्दिक शुभाशीष।

- म० विनयसागर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ॐ नमो जिनपतये।

महाकवि-श्रीजिनवल्लभसूरि-प्रणीतं

धर्मशिक्षा-प्रकरणम्

महोपाध्यायजिनपालगणिविरचितवृत्तिसमेतम्

[वृत्तिकृन्मङ्गलाचरणम्]

विषमविशिखशिक्षाक्षुण्णसद्भावनानां
त्रिजगति भवभाजां धर्मशिक्षाप्रयोगात्।
विहितशिवसुखश्रीसङ्गमः सुप्रसन्नो
जिनपतिशशिकान्तिर्मङ्गलं वस्तनोतु॥ १॥

श्री**जिनवल्लभ**शुभगुरुविरचितसुविचार**धर्मशिक्षाया**ः।
विवरणमतितनुमतिरपि गुरुप्रसादात् किमपि वच्मि॥ २॥

सालङ्काराः सदर्थाः श्रुतिसुखदपदन्याससारा गभीरा
गीर्वाणामात्यबुद्धेरपि विषयपथं या न सम्यक् प्रयान्ति।
वाचस्ता **धर्मशिक्षाप्रकरण**नृपतेरुद्यमो यो विवेक्तुं
नूनं कल्लोलमाला गणयितुमभवन्मे स सर्वान्त्यसिन्धोः॥ ३॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इह हि संसारिणां चतुर्गतिगर्तनिपातमहाकष्टसन्तापाध्मातशरीर-मानसानां तद्व्यवच्छेदाय सत्प्रवृत्तिनिबन्धनं जिनेन्द्रसपर्यादिष्वष्टादशसु द्वारेषु प्रतिद्वारं स्वरूप-फलाद्यभिधायकवृत्तद्वयमुक्ताफलालङ्कृतं **धर्मशिक्षा**-भिधानमहामुक्ताकलापरूपं चत्वारिंशद्वृत्तप्रमाणं प्रकरणं श्री**जिनवल्लभसूरि**-राविश्चकार। तत्र चादौ तावद्विघ्नविनायकोपशान्तये शिष्टसमयपरिपालनाय चेष्टदेवतानमस्कारं षडरकचक्रबन्धेन स्वनामाङ्कितेनाह—

नत्वा भक्तिनताङ्गकोऽहमभयं नष्टाभिमानक्रुधं
विज्ञं वर्द्धितशोणिमक्रमनखं वर्ण्यं सतामिष्टदम्।
विद्याचक्रविभुं जिनेन्द्रमसकृल्लब्धार्थपादं भवे
वेद्यं ज्ञानवतां विमर्शविशदं धर्म्यं पदं प्रस्तुवे॥ १॥

व्याख्या—अहं जिनेन्द्रं नत्वा धर्म्यं पदं प्रस्तुव इति सम्बन्धः। तत्र **नत्वा** प्रणम्य, कमित्याह—**जिनेन्द्रं** जितराग-द्वेष-मोहेषु **जिनेषु** सर्वेष्वपि चत्वारिंशदतिशयोपेतत्वेन **इन्द्रं** स्वामिनम्। कीदृशोऽहम्? **भक्त्या** सबहुमान-बाह्यप्रतिपत्त्या **नतं** प्रह्वीभूतम् **अङ्गं** शरीरं यस्य स तथा। स एव स्वार्थिक-कप्रत्ययान्तत्वाद् **भक्तिनताङ्गकः**। **अह**मित्यात्मनिर्देशे। किंविशिष्टं जिनेन्द्रम्? **अभयम्** इहलोकभयादिसप्तविधभयविकलम्। भयस्य च नोकषायविशेषस्या-भावेन नवनोकषायवैकल्यमुपलक्ष्यते, तेन सर्वनोकषायरहितमित्यर्थः। तथा **नष्टाभिमान-क्रुधं** विलीनाहङ्कार-क्रोधम्। अत्राप्यभिमान-क्रोधाभ्यां कषायाश्चत्वारोऽपि सप्रभेदा उपलक्ष्यन्ते, तेन षोडशकषायरहितमित्यर्थः। अनन्तानुबन्धिकषायसहचरोदयत्वाद् मिथ्यात्वस्य तस्याप्यभावोऽव-बोद्धव्यः। एतावता हेयपक्षहीनमुक्तम्। तथा विशेषेण जानाति वेत्तीति **नाम्युपधे**[१]त्यादिना कप्रत्यये **विज्ञ**मिति। विमलकेवलज्ञानावलोकेन

१. नाम्युपधप्रीकृगृज्ञां कः—इति कातन्त्रव्याकरणे ४। २। ५१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्तवस्तूनां विशेषरूपतया प्रतिपत्तारम्, केवलविज्ञानस्य च समयान्तरित-केवलदर्शनसहचारित्वात् सर्वदर्शिनमित्यपि द्रष्टव्यम्। तथा **वर्द्धितं** वृद्धिं गतः **शोणिमा** आरक्तत्वं येषां ते **वर्द्धितशोणिमान**स्तथाविधाः **क्रमनखाः** पादांह्रिरुहा यस्य स तथा तम्, अनेन च सामुद्रिकलक्षणोपेत-त्वं क्रमनखानां दर्शितम्। उपलक्षणं चैतत्, तेन समस्तानामप्यवयवानां सामुद्रिकलक्षणोपेतत्वं दर्शितं भवति, ततः सामुद्रिकलक्षणोपेत-समस्तावयवमित्यर्थः। तथा **वर्ण्यं** प्रशस्यम्। केषामित्याह—**सतां** शिष्टानाम्, न त्वसताम्, तेषां गुणद्वेषित्वात्। न केवलं वर्ण्यं किन्तु **इष्टदं चा**भिमतार्थसम्पादकं च, अर्थात्तेषामेव। **च**कारोऽत्र लुप्तो द्रष्टव्यः। तथा **विद्याः** सम्यग्ज्ञाननिदानशास्त्राणि **आचाराङ्गा**दीनि लक्षण-साहित्य-तर्क-च्छन्दो-ज्योतिर्मन्त्रादिशासनानि च, तासां **चक्रं** वृन्दम्, तस्य **विभुं** प्रणेतृत्वात् स्वामिनम्, दृष्टिवादान्तर्गतत्वात् सर्वविद्यानामिति भावः। तथा **असकृत्** अनेकशो **लब्धः** प्राप्तोऽर्थः सुरादिरचितमहामहिमलक्षणो यकाभ्यां तादृशौ **पादौ** चरणौ यस्य स तथा तम्। तथा **भवे** संसारे **वेद्यं** ज्ञेयम्। न हि ततोऽपि किञ्चिदन्यत् परमात्मरूपं वेद्यमस्तीति भावः। केषामित्याह—**ज्ञानवतां** सम्यगवबोधभाजां तथा **विमर्शनं** विमर्शः पुनः पुनरनुध्यानं तेन **विशदं** निर्मलम्, अथवा धर्म्यपदस्यैवेदं विशेषणं तदपि विमृश्यमानं विशदीभवतीति। ततः किमित्यभिधेयमाह—**प्रस्तुवे** प्रारभे। किं तदित्याह—पद्यते गम्यते निःश्रेयसानुगुणोऽर्थोऽनेनेति **पदं** विशुद्धं वचनम्। कीदृशम्? धर्मे दुर्गतिगर्तनिपतज्जन्तुजातधारणप्रवणेऽध्यवसाये तत्पूर्वकेऽनुष्ठाने च साधु **धर्म्यं** धर्मानुगतमित्यर्थः। अयं च नमस्कारो यथाभूतान्यासाधारणगुणोत्कीर्त्तनरूपत्वाद्भावस्तवः। तत्र गुणा मूलाति-शयाश्चत्वारोऽपायापगमातिशयो ज्ञानातिशयः पूजातिशयो वागतिशयश्चेति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्राऽभय-**नष्टाभिमानक्रु**त्पदाभ्यामपायापगमातिशयो दर्शितः, **विज्ञ**पदेन तु ज्ञानातिशयः, **लब्धार्थपाद**पदेन पूजातिशयः, **विद्याचक्रविभु**शब्देन च वागतिशयः। तथे**ष्टद**मित्यनेन परार्थसम्पत्ति**र्विज्ञ**मित्यादिभिस्तु स्वार्थ-सम्पत्तिरपि दर्शितेति भवति भावस्तवना।

चक्ररूपता त्वस्यैवं भावनीया—कर्णिकायां तावल्लघुकुण्डलकमेकम्। ततोऽक्षरद्वयद्वयान्तरितं रेखाद्वयनिष्पन्नमेकाक्षरप्रमाणं द्वितीयं कुण्डलकम्। ततोऽप्यक्षरत्रयत्रयान्तरितमेकाक्षरप्रमाणं तृतीयं कुण्डलकं रेखाद्वयनिष्पन्नम्। ततोऽप्येकाक्षरान्तरितमेकाक्षरप्रमाणं रेखायुगलनिष्पन्नं चतुर्थं कुण्डलकम्। तथा कर्णिकाया ऊर्ध्वभागेऽधोभागे चान्त्यकुण्डलकप्राप्तं रेखाद्वयं कार्यम्। ततस्तस्य दक्षिणभागे तत्कुण्डलकाक्षरद्वयान्तरितं कर्णिकाया ऊर्ध्वभागाधोभागयोरन्त्यकुण्डलकप्राप्तं द्वितीयं रेखाद्वयम्। एवं ततोऽपि दक्षिणतस्तथैवाक्षरद्वयान्तरितमन्त्यकुण्डलकप्राप्तं रेखाद्वयं कार्यम्, एवं च षड्रेखान्तरालेषु षडरकाणि। अस्य च षडरकस्य चक्रस्य कर्णिकात ऊर्द्धगतरेखाद्वयमध्ये पर्यन्तवर्त्तिकुण्डलके प्रथममक्षरं 'न' काररूपं लिख्यते, ततोन्तराले 'त्वा' इति। ततोऽधः कुण्डलकमध्ये 'भ' इति। ततः 'क्तिनतां' इति त्रयम्, ततः कुण्डलकमध्ये 'ग' इत्येकम्, ततोन्तराले 'कोह' इति द्वयम्। ततः कर्णिकायां 'म' इत्येकम्, ततोऽप्यधोऽन्तराले 'भयं' इति द्वयम्, ततः कुण्डलकमध्ये 'न' इति, ततोऽप्यन्तराले 'ष्टाभिमा' इति त्रयम्, पुनः कुण्डलकमध्ये 'न' इत्येकम्, ततोऽन्तराले 'क्रु' इत्येकम्। ततः पर्यन्तकुण्डलके 'धं' इत्येकम्। एवं तद्दक्षिणदिग्वर्त्तिरेखाद्वयमध्येऽपि समस्ताक्षरन्यासः कार्यः, ततस्तृतीयेऽपि रेखाद्वयमध्येऽनेनैव क्रमेण समस्ताक्षरन्यासः कर्त्तव्यः। अथ तृतीयरेखाद्वयपर्यन्तवर्तिनो 'वे' इत्यक्षरस्य पुनरावर्तने, ततो दक्षिणभागे 'द्यं ज्ञा' इति अक्षरद्वयम्, ततोऽपि रेखाद्वयमध्यवर्ति 'न' इत्येकम्, ततोऽपि दक्षिणतो 'वतां' इत्यक्षरद्वयम्, ततोऽपि रेखाद्वयमध्ये 'वि' इत्येकम्, ततोऽपि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दक्षिणतो 'मर्श' इति द्वयम्, ततोऽपि रेखाद्वयमध्ये 'वि' इत्येकमक्षरम्, ततोऽप्यन्तराले 'शदं' इति द्वयम्। ततोऽपि रेखाद्वयमध्ये 'ध' इत्येकम्, ततोऽप्यन्तराले 'र्म्यं प' इत्यक्षरद्वयम्। ततो रेखाद्वयमध्ये 'दं' इत्येकमक्षरम्, ततोऽप्यन्तराले 'प्रस्तु' इति द्वयम्। ततः पुनरपि 'वे' इत्येकमक्षरम्, इति सम्पूर्णषडरकचक्राक्षरस्थापना। अत्र च कर्णिका[या] उपरि कुण्डलकमध्ये यथाक्रमं प्रदक्षिणावर्त्तं 'गणि जिनवल्ल' इत्यक्षरषट्कम्, ततोऽप्युपरितने तृतीयकुण्डलके तथैव 'भवचनमिदम्' इत्यक्षरषट्कम्। एवं च कर्तृनामाङ्कितत्वं चक्रस्य द्रष्टव्यमिति। अत्र च कर्णिकाक्षरं 'म' काररूपं त्रिस्तथा वृत्तान्त्याक्षरं 'वे' इत्यपि त्रिः। शेषं तु 'न वि वि ध दं' इत्यक्षरपञ्चकं द्विरावर्त्यत इति शार्दूलविक्रीडितवृत्तार्थः। तथा चक्रमिति, **चक्रं** रथाङ्गम्, तदाकारेण च वृत्ताक्षरन्यासाच्चक्रमिव चक्रं हलमुसलादिवच्चित्रविशेष इत्यर्थः। स्थापना चेयम्—

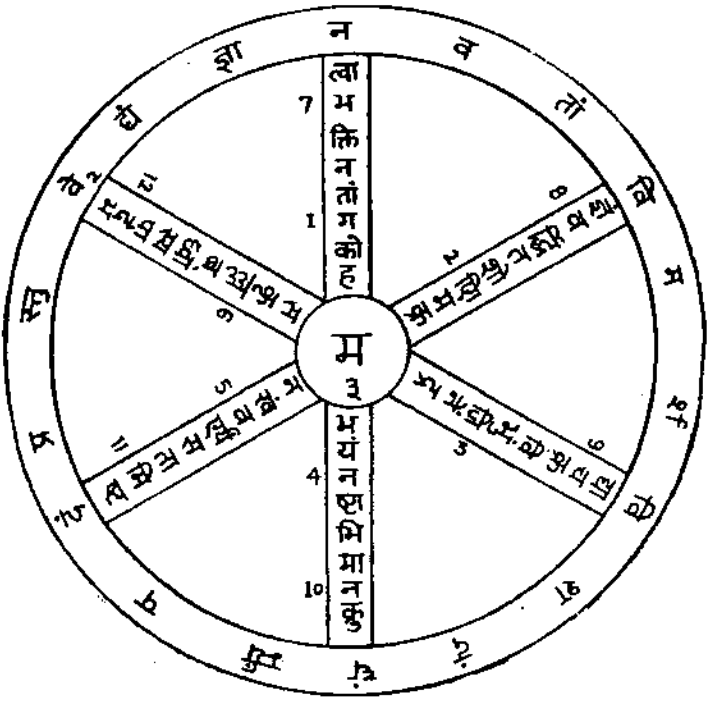

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथ **धर्मशिक्षां** विवक्षुः पीठमारचयन्नाह—

भो भो भव्या! भवाब्धौ निरवधिविधुरे बम्भ्रमद्भिर्भवद्भि-
र्दृष्टान्तैश्चोल्लकाद्यैर्दशभिरसुलभं प्रापि कृच्छ्रान्नरत्वम्।
तद्वत् क्षेत्रादिसामग्र्यपि समधिगता दुर्लभैवेति सम्यग्
मत्वा माहाकुलीनाः कुरुत कुशलतां धर्मकर्मस्वजस्रम्॥ २॥

व्याख्या—भो! इत्यामन्त्रणे, द्विर्वचनं तु सम्भ्रमे, ततश्च **भव्या** इत्यनेन मोक्षगमनयोग्या जीवाः सम्बोध्यन्ते। **भो भो भव्या! नरत्वं प्राप्य धर्मकर्मसु कुशलतां कुरुते**ति सम्बन्धः। नरत्वं क्व प्राप्येत्याह—**भवाब्धौ** संसारार्णवे, कीदृशे? **निरवधिविधुरे** निःसीममहाकष्टे, किं कुर्वाणैः? **बम्भ्रमद्भिः** अत्यर्थं चतसृष्वपि गतिषु पर्यटनप्रवृत्तैः। कैः? इत्याह—**भवद्भिः** युष्माभिरिति भव्यानां परामर्शः। कीदृशं नरत्वम्? **असुलभम्** दुःप्रापम्। कैः? इत्याह—**दृष्टान्तैः** उदाहरणैः। कतिसंख्योपेतैः? **दशभिः** दशसंख्याकैः। कीदृशैः? **चोल्लकाद्यैः** स्वामिना भृत्यादीनां स्वहस्तेन प्रसादीक्रियमाणं भोजनादिकं चोल्लकः, स आद्यो येषां पाशकादीनां ते तथा, तैः। तदुक्तम्—

चुल्लग पासग धन्ने, जूए रयणे य सुमिणचक्के य।
चम्म जुगे परमाणू दस दिट्ठंता मणुयलंभे॥

[उत्तराध्ययननि० १६०]

किम्? इत्याह—**प्रापि** प्राप्तम्, कस्मात्? **कृच्छ्रात्** महाकष्टसाध्यकर्मक्षयोपशमविशेषात्। किम्? इत्याह—**नरत्वं** मनुजत्वम्। यथा च नरत्वं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृच्छ्रप्राप्यं तथा **क्षेत्रादिसामग्र्यपी**त्याह—**तद्वत्** नरत्ववत् **क्षेत्रं** भरतादिकर्मभूमिरूपम्, **आदि**शब्दाज्जाति-कुल-रूपा-ऽऽरोग्या-ऽऽयुष्क-धर्मबुद्धि-श्रवणावग्रह-श्रद्धा-संयमपरिग्रहः। समग्राणां संपूर्णानां धर्मसाधनानां भावः सामग्री, क्षेत्रादिश्चासौ सामग्री च, सापि, न केवलं नरत्वमित्यपेरर्थः, **समधिगता** सम्यक् प्रतीता। कथम्? इत्याह—**दुर्लभैव** दुःप्रापैवेयमिति, अथवा अनेकार्थत्वाद्धातूनां **समधिगता** प्राप्तेत्यर्थः, **इति** एतत् **सम्यग्** यथावस्थितत्वेन, न ह्येतदन्यथेति भावः, **मत्वा** अवबुध्य, कीदृशाः सन्तः? **महाकुलं** प्रशस्तविशुद्धपितृपक्षरूपम्, तस्यापत्यानि *महाकुलाद् वाऽज्ञीनञौ [सिद्धहेम० ६। १। ७७]* इतीनञि वृद्धौ च **माहाकुलीना** इति। श्रोतृणां श्रुतिविषयोत्साहनार्थं चैतद्विशेषणम्। उपदेशमाह—**कुरुत** विधत्त **कुशलतां** निपुणताम्। केषु? इत्याह—**धर्मे** सुकृतं तत्प्रधानानि **कर्माणि** व्यापारास्तीर्थकृद्भक्त्यादयस्तेषु **अजस्रं** निरन्तरम्। अयमभिप्रायः—यथा केनापि जिगीषुणा भूपेन प्रभूतद्रव्यदानसम्मानादिना कथञ्चिदावर्ज्यानीतेषु दूरदेशान्तरीयेषु सहायभूपेषु रिपुवर्गग्रहणाय न विलम्बः प्रमादो वा क्रियते तथा भवद्भिरपि महाकृच्छ्रप्राप्तेषु धर्मसाधनेषु क्षेत्रादिषु सर्वथा प्रमादो विलम्बो वा धर्मकर्मसु न कार्य इति। चोल्लकादिदृष्टान्तस्वरूपं च प्रायः सिद्धान्तप्रसिद्धेः सुप्रतीतमेव। तच्चैवं संक्षेपतः —

[१]
सकलभरतवर्षासंख्यपस्तेषु भुक्त्वा-
ऽप्यथ पुनरशनी स्याद्ब्रह्मदत्तस्य गेहे।
स हि कथमपि विप्रः संसृतौ नैव नृत्वं
सुलभमिह निमग्नं रम्यरत्नं यथाब्धौ॥ १॥

१. तृतीयपरिशिष्टे द्रष्टव्यम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चाणक्यामात्यपाशाः सुरविहितमहाप्रातिहार्या अपि स्यु-
र्दैवात् प्रत्यर्थिपाशा विघटितसहजा दुर्जनौघा इवैते।
नैव भ्रष्टं नरत्वं कथमपि सुलभं स्यात् प्रभाजालनीत्या
पाताले चण्डरश्मेरतिबहललसद्ध्वान्तरुद्धावकाशे॥ २॥

भित्त्रं कर्त्तुं किल स्त्री प्रभवति जरती दुर्बला सर्षपाणां
प्रस्थं मिश्रादतीवाऽखिलभरतधराधान्यराशेः समस्तात्।
सान्निध्याद्देवतायाः कथमपि न पुनः प्राप्यते मानुषत्वं
प्रभ्रष्टं नष्टपुण्यैः सलिलमिव मरौ सार्थिकैरुत्पथस्थैः॥ ३॥

संसद्यष्टशतोत्तमाश्रिकलितस्तम्भाभिरामश्रिये
स्तम्भानामपि चोल्लसच्छतमहो अष्टोत्तरं विद्यते।
राज्ञस्तस्य सुतेन चाभिलषता राज्यं विजेया सभा
दाया अप्यखिला नृपस्य तनुजस्य त्वेक एव ह्यसौ॥ ४॥

एकैका चास्त्रिरष्टोत्तरशतविधिना सर्वसंसद्गतेषु
स्तम्भेष्वेवं समस्ता अपि यदि विजितास्तेन राजाङ्गजेन।
स्युर्दैवाद् द्यूतशक्तेः कथमपि न तथाऽप्येतदासाद्यते भो!
मानुष्यं भूरिकार्यप्रवणमुदयनं यद्वदुष्णांशुमूर्त्तेः॥ ५॥

वृद्धश्रेष्ठ्यङ्गजातैः शुभविविधमणिष्वब्धिपारागतेभ्यो
दत्तेष्वन्यान्यदिक्षु प्रसभमथ गतेष्वेषु कालेन पश्चात्।
रोषाद्रुद्धस्य भूयोऽप्यथ घटनविधिः स्यात् कथञ्चिन्मणीनां
तत्पुत्रैर्जातु नष्टं न पुनरपि निशि ब्रध्नवन्मानुषत्वम्॥ ६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विन्देत् कार्पटिकः कथञ्चन पुनः पूर्णेन्दुपानं विधेः
स्वप्ने राज्यफलप्रदं न तु मुधा नष्टं नरत्वं नरः।
किं केनापि कुतोऽपि वीतविभवः क्षीणे सुरायुष्यहो
भूयः कोपि सुरेश्वरस्त्रिदशतां प्राप्तः श्रुतः कर्हिचित्॥ ७॥

अष्टौ चक्राणि सव्येतरतरलगतीन्युच्चकैस्तत्परस्ता-
द्राधां भिन्दीत चक्षुष्यवहितहृदयो राजवीजी कथञ्चित्।
विद्राणाशेषभीतिप्रचय इह जनेऽपीन्द्रदत्ताङ्गभूवत्
कृच्छ्रेणैवं सुदक्षोऽप्यसुलभनरतां नाशितां नो लभेत॥ ८॥

सुनिबिडजलनीलीचर्मभेदेन सिन्धू-
पमितगुरुनदान्तश्छिद्रसन्दृष्टचन्द्रः।
कमठ इह पुनस्तच्छिद्रमाप्नोति भोः किं
निजकजनसमेतस्तद्वदेतन्नरत्वम्॥ ९॥

स्वयम्भूरमणे महाजलनिधौ युगं पूर्वतो-
ऽपरत्र समिलां सुरः किल विमुच्य कोऽपीक्षते।
प्रवेशनमहो युगे विवरमध्यतोऽस्याः स किं
प्रपश्यति नरस्तथा न नरभावमासादयेत्॥ १०॥

पाषाणस्तम्भचूर्णावयवशतसहस्राणि फूत्कृत्य मेरो-
र्मूर्ध्नो देवेन केनाप्यथ सकलदिशां प्रापितान्यन्तदेशे।
भूयस्तां स्तम्भतां तान्यमरमहिमतः प्राप्नुयुः कृच्छ्रकृच्छ्रान्
नष्टं सन्मानुषत्वं कथमपि [न हि?] प्राप्यते प्राणभाजा॥ ११॥

[ ]

इति स्रग्धरावृत्तार्थः॥ २॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अत्र च प्रकरणे प्रायः शार्दूलविक्रीडितं स्रग्धरा च वृत्तं क्वचिन्मालिन्याद्यपीति।

अथाष्टादशाऽपि द्वाराण्युद्दिशन् पूर्वं तत्सम्बन्धायावान्तरवाक्यमाह— **ततश्चे**ति। यतो धर्मकर्मसु कुशलताविधानमुपदिष्टम्, न चाज्ञातेषु तच्छक्यम्। **ततश्चे**ति तस्मात्तदवबोधाय तत्स्वरूपमुच्यत इति शेषः, इत्यवान्तरवाक्यार्थः। तथा भव्या हि मुमुक्षवो मोक्षहेतुष्वेव विशेषतः सस्पृहा भवन्ति इति ग्रन्थकारस्तानेव मोक्षहेतून् विशेषतो गृहस्थान् प्रति सोपयोगांश्चैत्यभक्त्यादीनत्र प्रकरणे व्यक्ततया अभिधास्यन् पूर्वं तावत्तानेव धर्मकर्मरूपनाम्ना संकीर्तयन्नाह—

भक्तिश्चैत्येषु शक्तिस्तपसि गुणिजने सक्तिरर्थे विरक्तिः
प्रीतिस्तत्त्वे प्रतीतिः शुभगुरुषु भवाद्भीतिरुद्यात्मनीतिः।
क्षान्तिर्दान्तिः स्वशान्तिसुखहतिरबलावान्तिरभ्रान्तिरासे
ज्ञीप्सा दित्सा विधित्सा श्रुतधनविनयेष्वस्तु धीः पुस्तके च॥ ३॥

व्याख्या—चैत्येषु भक्तिरस्तु, तपसि शक्तिरस्त्वित्यादिरूपतयाऽस्त्विति क्रियापदं सर्वत्र योज्यम्। तत्र च **चित्तं** रागाद्यभावेन निर्मलं मनस्तस्य भावः कर्म वा **चैत्यं** मुख्यवृत्त्या, तन्निमित्तत्वाच्च 'व्रीहीन् वर्षति पर्जन्यः' इतिवज्जिनप्रतिमा अपि चैत्यानि गौणवृत्त्या, तदुक्तम्—

चित्तं सुपसत्थमणो तब्भावो कम्म वा वि जं तमिह।
तं चेइयं ति भन्नइ कारणओ हुंति जिणपडिमा॥
[ ]

जिनप्रतिमाधारत्वाद्देवगृहमपि 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इतिवच्चैत्यं गौणवृत्त्यैवोच्यते। तेषु **चैत्येषु** प्रतिमादिरूपेषु जिनगुणाध्यारोपेण भक्तिर्द्विधा—आशातनापरिहाररूपा उपचारविशेषरूपा च। तत्राद्या तावन्मलिनाङ्गवसना-ऽसिधेनुकाबन्ध-वार्त्ताविधान-शरीरकण्डूयनादिपरिहारेण, द्वितीया तु भावविशेषवतः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रणाम-प्रदक्षिणादान-विकसितकुसुमपूजन-सुरभिधूपोद्ग्राहण-प्रधानपक्वान्न-फलविशेष-बलिविरचन-स्तुति-स्तोत्रकलितपञ्चदण्डक-चैत्यवन्दनादि-विधानेन भवतीति। देवगृहेऽपि तदावासत्वेन नरपतिप्रासाद इव प्रतिपत्ति-विशेषरूपा भक्तिः पूर्ववद् द्विधैव। तत्राद्या—

तंबोल-पाण-भोयण-पाणह-थीभोग-सुयणनिट्ठिवणे।
मुत्तुच्चारं जूयं वज्जइ जिणमंदिरस्संतो।

[ ]

इत्याद्याशातनापरिहारेण। द्वितीया तु प्रद्विष्टजनविधीयमानशिखर-पाञ्चालिकाभङ्गादिनिवर्त्तनेन भक्तिर्भवति। ततश्च **सास्तु** भवत्विति योगः। समस्तधर्मकर्मणां तीर्थकृद्भक्तिपूर्वकत्वादस्या आदावुपन्यासः। एवं चैत्यभक्तिमानपि विशिष्टतपश्चरणावष्टम्भविकलो न कर्मनिर्जरावान् स्यादत आह—**शक्तिः** सामर्थ्यं **तपस्य**नशनादिरूपेऽस्तु। तथा सत्यामपि तपःशक्तौ गुणवज्जनसम्पर्कमन्तरेण न धर्मकर्मनिर्वाहः स्यादत आह—**गुणिजने** सातिशयज्ञानादिगुणवति लोके आचार्यादौ **सक्ति**रत्यन्तप्रीतिलक्षणः प्रतिबन्धोऽस्तु। सत्यामपि चास्यामत्यन्तमर्थासक्तिमान्न धर्मप्रवृत्तिमान् स्यादत आह—**अर्थे** द्रव्यविषये **विरक्ति**र्वैराग्यमस्तु। सापि वस्तु-तत्त्वप्रीतिमन्तरेण न स्यादत आह—**प्रीति**रान्तरः प्रतिबन्धस्**तत्त्वे** जीवाजीवादिरूपे। अयमभिप्रायः—जीवाजीवादिषु नवसु तत्त्वेषु संवरतत्त्वे समित्यादिसप्तपञ्चाशद्भेदेऽनित्यत्वादिद्वादशानुप्रेक्षा उक्ताः सन्ति। तत्र च सर्वस्याप्यर्थादेरनित्यत्वाशुचित्वादिभावनावशादर्थे **विरक्ति**रिति। सापि च गुर्वादेशमन्तरेण न स्यात्, सोऽपि न तत्प्रतीतिं विनेत्यत आह—**प्रतीति**-रान्तरबहुमानेनाऽयमेव गुरुरिति प्रत्ययः। **शुभगुरुषु** ज्ञानक्रियाविशेष-रत्नालङ्कृतेष्वाचार्यादिष्वस्तु। शुभगुरुप्राप्तावपि भवभयमन्तरेण न सम्यक्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवृत्तिरित्यत आह—भवन्ति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति **भव**श्चतुर्गतिकः संसारस्तस्माद्भीतिरात्यन्तिकदुःखलक्षनिदानत्वेन महारौद्रतया भयं साप्यस्तु। तथाप्यन्यायचारिणो निष्फलैव भवभीतिरित्यत आह—**उद्या** सर्वलोकानुकूलत्वेन प्रशस्या **आत्मनः** स्वस्य **नीतिः** उत्तमगुणाभ्यासादिरूपो न्यायोऽस्त्विति। अथवा **उद्या** इति विशेषणं समस्तचैत्यभक्त्यादिस्त्रीलिङ्गविशेष्येषु सर्वेष्वप्यविरुद्धत्वाद्योज्यम्। न्यायवानप्यत्यन्तरोषणो नैहलौकिककार्यस्यापि साधकः स्यादत आह—**क्षान्तिः** क्षमा परकृतप्राणान्तिकापराधस्यापि धर्मबुद्ध्या तितिक्षणमस्त्विति। क्षमावानप्यजितेन्द्रियो दुर्विनीततया प्रायो गुर्वादीनामप्यनवधेयतया न स्वकार्यसाधकः स्यादत आह—**दान्तिः** दमः समस्तेन्द्रियवशीकारोऽस्त्विति। बाह्येन्द्रियनिग्रहवानपि नान्तरङ्गक्रोधादिरिपुवशवर्ती परलोकसाधकः स्यादत आह—**स्वस्यात्मनः शान्तिः** समस्तान्तरङ्गक्रोधाद्यशिवोपशमनेन स्वास्थ्यं तदप्यस्त्विति। तत्रापि यावत् सांसारिकवैषयिकसुखेषु तात्त्विकी सुखप्रतीतिस्तावन्न मोक्षसुखसाधनेषु संघटेताऽत आह—**सुखे** सांसारिकसुखप्रत्यये **हतिः** हननं विनाशः सुखाभावप्रत्यय इति यावदस्तु भवतु। सापि रूपादिसमस्तविषयनिधानभूतयोषिज्जनप्रतिबन्धे न स्यादत आह—**अबला**या योषितो **वान्ति**र्वमनं परिहारोऽप्यस्तु। साक्षादनुभूयमानसम्भोगजसुखनिदानवनितात्यागोऽपि नाप्तोपदेशमन्तरेण स्यादुपदेशोऽपि नाप्तभ्रान्ताविति यत आह—**अभ्रान्तिः** अविपर्ययो निश्चय इति यावत्, अस्त्विति। **आप्ते** इति *'आप्तिं दोषक्षय विदुः'* [ ] इति वचनाद्रागादिसमस्तदोषक्षयेण विशिष्टज्ञानस्याप्तिः प्राप्तिरास्तिरस्यास्तीति अर्शआदित्वादच आप्तस्तत्र, आप्तप्रत्यये हि तदुपदेशादनुभूयमानसुखनिदानमपि परिणामदारुणविपाकत्वाद्विषफलसन्ततिरिव त्यज्यत एवाबलेति। आप्ताभ्रान्तावपि यदि तदीयवचन-

१. अर्शआदिभ्योऽच् पा० ५। २। १२७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिज्ञासा न भवति तदा न तदुक्तानुष्ठानेन परलोकसाधकत्वमित्यत आह—**ज्ञीप्सा** तदुक्तानुष्ठानविधित्सया जिज्ञासा **श्रुते** तदुपदिष्टाङ्गानङ्गादि-रूपसिद्धान्ते अस्त्विति। विज्ञातश्रुतार्थोऽपि गृहस्थो यावत्सुपात्रे श्रद्धातिशयवान् सुविशुद्धं धनं न नियोजयति तावन्न सम्पूर्णद्रव्य-स्तवाराधकः स्यादित्यत आह—**दित्सा** दानवाञ्छा **धने** सुविशुद्धद्रव्यविषये अस्त्विति। भवन्तु पूर्वोक्ताः सर्वेऽपि गुणास्तथापि *'विनयः शासने मूलम्* [ ] इति वचनादविनीतस्य न कदाचित्स्वार्थसाधकतेत्यत आह—**विधित्सा** विधातुमिच्छा **विनये** गुर्वादिषु सर्वथा वचनकरणाद्यनुकूल-सम्पादनरूपेऽस्त्विति। अत्र च ज्ञीप्सादिषु तिसृष्वपि यथासंख्यं श्रुतं च धनं च विनयश्चेति द्वन्द्वे तेष्विति सम्बन्धः। अस्त्विति वक्ष्यमाणपदेऽपि सम्बन्धनीयम्। सर्वेऽप्येते गुरूपदिष्टा एव ज्ञायन्ते। गुरवोऽपि सम्प्रति तथाविधप्रज्ञा-स्मृतिपाटवाभावेन पुस्तकं विना न सम्यगुपदेशप्रवृत्तिभाज इत्यत आह—**धीः** बुद्धिरर्थाल्लेखनादिविषया **पुस्तके** च प्रसिद्धस्वरूपे अस्त्विति। अत्र च चैत्यभक्त्यादीनां समस्तधर्मकर्मणां स्त्रीलिङ्गत्वेनैव निर्देशो वैशिष्ट्यात् काव्यविधानशक्तेर्ग्रन्थकर्तुरिति बोद्धव्यम्। एतानि हि चैत्यभक्त्यादीनि कर्माणि सादरमनुष्ठीयमानानि निःश्रेयसानुगुणधर्माय कल्पन्त इति भवत्येतत् सर्वं धर्म्यं पदमिति वृत्तार्थः ॥ ३॥

अथाद्यं चैत्यभक्तिद्वारं फलोपदर्शनद्वारेण विवृण्वन्नाह—

व्यपोहति विपद्धरं हरति रोगमस्यत्यघं
करोति रतिमेधयत्यतुलकीर्तिधीश्रीगुणान्।
तनोति सुरसम्पदं वितरति क्रमान्मुक्ततां
जिनेन्द्रबहुमानतः फलति चैत्यभक्तिर्न किम्॥ ४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—चैत्यभक्तिः किं न फलतीति सम्बन्धः। तथाहि—माहात्म्य-विशेषाद् व्यपोहत्यपनयति **विपद्धरं** राजचौराग्न्याद्युपद्रवप्राग्भारम्, **हरति** निवर्त्तयति **रोगं** ज्वरकुष्टक्षयादिकं व्याधिम्, तथाऽ**स्यति** क्षिपत्य**घं** रोगादेरेव कारणमूलं पापम्, एतावता सनिदानदुरितोच्छेद उक्तः। अथ गुणसद्भाव-माह—**करोति** विधत्ते **रतिं** सर्वदा सम्पद्यमानसमस्ताभिमतप्राप्त्या चित्तस्वास्थ्यम्, **तथैधयति** सुकृतानुभावेन प्रवर्द्धयति। कान्? इत्याह—**कीर्तिः** प्रशस्ता ख्यातिः, **धीः** बुद्धिः, **श्रीः** लक्ष्मी**र्गुणाः** सौभाग्याऽऽदेयतादयस्ततः कीर्त्तिश्च धीश्चेत्यादि द्वन्द्वे, **अतुला** निरुपमास्ततश्चातुलाश्च ते कीर्तिधीश्री-गुणाश्च तान्। एवमैहिकं फलमभिधायाथ पारत्रिकमाह—**तनोति** करोति **सुरसम्पदं** महापरिवाररूपरत्नादित्रिदशसमृद्धिम्, किं बहुना? **वितरति** ददाति **क्रमात्** क्रमेण सुमानवत्व-सुदेवत्व-सच्चारित्रादिलाभपरिपाट्या **मुक्तता** कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणां सिद्धताम्। तत् किमेवंविधं फलमस्मद्वंशजैरिदं चैत्यं कारितमिति तद्बहुमानेनाप्याधीयमाना भक्तिः सम्पादयति? नेत्याह-**जिनेन्द्र-बहुमानतस्**तीर्थकृद्गुणानुरागेण तस्यैव तदाराधनहेतुत्वात्। तदुक्तम्—

तुममच्छीहिं न दीससि नाराहिज्जसि पभूयपूयाहिं।
किं तु गुरुभत्तिरागेण वयणपरिपालणेणं च॥

[ ]

ततस्तद्गुणानुराग एव फलदायीत्युक्तम्। स्वजनादिकारितत्वं तु स्वजनेष्वेव बहुमानं व्यनक्ति। एवं च पूर्वोक्ता चैत्यभक्तिः, **कि**मित्यपूर्वापूर्वे, वक्तुमशक्यम्, **न** नैव **फलति** कर्त्तुः, अपि तु सर्वमैहिकं पारभविकं च शुभं ददातीति पृथ्वीनामकच्छन्दोवृत्तार्थः ॥ ४॥

अथ समस्तसमीहितवस्तुपदपदार्थप्राप्तिहेतुत्वेन चैत्यभक्तेः सातिशयफलवत्तामाह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तद्गेहे प्रस्नुतस्तन्यभिलषति मुदा कामधेनुः प्रवेष्टुं
चिन्तारत्नं तदीयं श्रयति करमभिप्रैति तं कल्पशाखी।
स्वःश्रीस्तत्सङ्गमाय स्पृहयति यतते कीर्त्तिकान्ता तमाप्तुं
तं क्षिप्रं मोक्षलक्ष्मीरभिसरति रतिर्यस्य चैत्यार्चनादौ॥ ५॥

व्याख्या—**यस्य चैत्यार्चनादौ रतिस्तद्गेहे** अर्चकमन्दिरे **कामधेनु**-र्वाञ्छितवस्तुदो सुरभि**रभिलषति** समीहते **प्रवेष्टुम्** अन्तर्भवितुम्। कीदृशी? इत्याह—**प्रस्नुताः** पयः क्षरितुं प्रवृत्ताः **स्तनाः** कुचा यस्याः सा तथा। अनेकवत्सस्येवार्चकस्य कामधेनुस्नेहविषयत्वं सातिशयं सूचितं भवति। अत एवाह—**मुदा** हर्षेण तथा **चिन्तारत्नं** चिन्तितार्थप्रदो मणिः **तदीयं** भक्तिकृत्सम्बन्धिनं **करं** हस्तं **श्रयति** भजते। अनेनापि चिन्तामणेस्तद्विषयो गौरवातिशयो व्यज्यते। तथा **अभिप्रैति** अभिप्रेततयाऽनुसरति। **तमिति** चैत्यार्चकम्, **कल्पशाखी** कल्पितार्थप्रदस्तरुविशेषः। अनेनाप्यर्चक-विषयस्तस्य प्रतिबन्धो लक्ष्यते। अचेतनेष्वप्येतेष्वर्चकसमाश्रयणवशात् स्नेहाद्युपचारः प्रवर्त्तते। तथा **स्वःश्रीर्**देवलोकलक्ष्मीस्तत्**संगमाया**-ऽर्चकपुरुषाश्लेषाय **स्पृहयति** अनुरागविशेषेण तत्सम्बन्धलालसा भवतीत्यर्थः। तथा **यतते** प्रयत्नवती भवति। कासावित्याह—**कीर्त्तिः** दानपुण्यकृता शुभा प्रख्यातिः, सैवात्यन्तरमणीत्वात् **कान्ता** वल्लभा, **तम्** इति चैत्यभक्तम्। किं कर्तुम् इत्याह—**आप्तुं** लब्धुम्, तथा **तमर्चकं क्षिप्रं** शीघ्रं **मोक्षलक्ष्मी**-र्निवृति**श्रीरभिसरति** कामार्त्तकामिनीव सङ्केतस्थानमागत्य गुप्ततया तेन सह सम्बध्यते। कस्यैवं कामधेन्वादिभिः सम्बन्धो भवतीत्यत आह—**रतिः** परमचित्तस्वास्थ्यलक्षणा **प्रीतिर्यस्य** पुण्यभाजः पुरुषस्य। क्व विषये इत्याह—**चैत्य**ानि जिनप्रतिमास्तासामर्चनं पूर्वोक्तमाशातनापरिहार-पुष्पाद्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रोपणलक्षणं तदादि यस्य देवद्रव्यरक्षणादेस्तत्तथा तत्र। अयमभिप्रायः— त्रिसन्ध्यं शुचिभूतेन पुष्पारोपणादित द्रव्यवृद्धिपर्यन्ता भक्तिः क्रियमाणा तीर्थकरत्वस्यापि हेतुः, किं पुनः विपद्धरादिव्यपोहनस्येति। अत्र च चैत्यार्चनरते गृहे कामधेनुप्रवेशादेरनेकस्याशक्यस्य कार्यस्य सिद्धेर्विशेषाख्योऽलङ्कारस्तथा च तल्लक्षणम्—

अन्यत् प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः।
तयैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः॥

[काव्यप्रकाश सू. १३६]

इति वृत्तार्थः॥ ५॥

अथ द्वितीयं तपःशक्तिद्वारं फलव्यक्तिद्वारेण वृत्तद्वयेनाह—

चक्रे तीर्थकरैः स्वयं निजगदे तैरेव तीर्थेश्वर-
श्रीहेतुर्भवहारि दारितरुजं सन्निर्जराकारणम्।
सद्यो विघ्नहरं हृषीकदमनं मङ्गल्यमिष्टार्थकृद्
देवाकर्षणकारि दुष्टदलनं त्रैलोक्यलक्ष्मीप्रदम्॥ ६॥

इत्यादिप्रथितप्रभावमवनीविख्यातसंख्याविदां
मुख्यैः ख्यापितमाशु शाश्वतसुखश्रीक्लृप्तपाणिग्रहम्।
आशंसादिविमुक्तमुक्तविधिना श्रद्धाविशुद्धाशयैः
शक्तिव्यक्तिसुभक्तिरक्तिभिरभिध्येयं विधेयं तपः॥ ७॥

व्याख्या—शक्त्यादिभिस्तपो विधेयमिति सम्बन्धः। किमित्यत आह—यतः **चक्रे** विदधे **तीर्थकरै**र्नाभेयादिवर्द्धमानपर्यन्तैरर्हद्भिः **स्वयम्** आत्मना संवत्सरादिषण्मासपर्यन्तस्य विधानात्। न केवलं विदधे, **निजगदे** अभिदधे च, चकारोऽत्र लुप्तो द्रष्टव्यः। कैः? **तैरेव** तीर्थकृद्भिः '*खणलवतवच्चियाए* [ ] इति वचनेन। कीदृशमित्याह—**तीर्थं** चतुर्वर्णश्रमणसङ्घस्तस्येश्वराः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्तृत्वेन स्वामिनस्तेषां **श्रीः** समवसरणादित्रैलोक्यवन्द्यत्वलक्ष्मीस्तस्या **हेतुः** कारणम्। तथा **भवहारि दृढप्रहारा**देरिव सर्वथा संसारापहरणशीलम्। तथा **दारितरुजं** रुजाशब्द आकारान्तोऽपि रोगवाचकोऽस्तीति विध्वंसितव्याधि, रसमूलत्वात् प्रायो व्याधीनां तपसा निवर्त्तनम्। तदुक्तम्—*पच्चुप्पन्नं वाहिं अट्ठमेण निवारए* [ ] इति, तथा **सती** शोभना नारकाद्यकाम-निर्जरावैपरीत्येन **निर्जरा** एकदेशकर्मक्षयलक्षणा **श्रेणिक**स्य सप्तकक्षय इव। तस्याः **करणं** हेतुः। तथा **सद्यः** तत्क्षणादेव **विघ्नहरं** प्रत्यूह-पाटनपटिष्ठम्। तथा **हृषीकदमन**मिन्द्रियवशीकारकम्। तथा **मङ्गलं** समस्तस्वाराज्यादिशुभप्राप्तिलक्षणं कल्याणम्, तत्र साधु **मङ्गल्यं** तन्मूलकारण-त्वात्। दधि-दूर्वादेर्हि कादाचित्काल्पकल्याणहेतुत्वात्। तथा मङ्गल्यमपि कदाचित् कुशूलनिहितबीजवत् सहकार्यभावान्न स्वकार्यकृत् स्यादत आह— **इष्टार्थकृत्** अवश्यमभिमतप्रयोजनसम्पादकमिति न मङ्गल्येन सह पौनरुक्त्यम्, तथा माहात्म्यविशेषाद् **देवाकर्षणकारि** यद्देवाभिसन्धिना यत् तपः पुण्यवता क्रियते तत् तत्समागमविधायकम्। श्रूयते हि **कृष्ण**वासुदेवेन लवणसमुद्राधिष्ठायकसुस्थिताभिसन्धिना अष्टमकरणं तदागमश्च। एवं चक्रवर्त्यादीनामपि तत्तत्कार्यसिद्धये तत्तद्देवताभिसन्धिना तत्तत्तपोविधानं तदागमश्च। तथा **दुष्टा**नां वैरि-व्याघ्र-सर्पादीनां **दलनं** निःप्रतापीकरणेनाऽ-किञ्चित्कारित्वकारि। किं बहुना? **त्रैलोक्यलक्ष्मीप्रदं** समुदितजगत्त्रय-कमलासम्पादकमिति। अत्र *द्वित्रिपदा पाञ्चाली* [रुद्रट० काव्यालं० २। ४] इति वचनात् पाञ्चाली रीतिः॥ ६॥

इति एवं पूर्वोपदर्शिततीर्थकरश्रीहेतुत्वादिक**मादि**र्यस्य शश्वद् घटमानकान्तकान्तादेः स तथा। तादृशः **प्रथितः** प्रख्यातः **प्रभावो** माहात्म्यं यस्य **तपस**स्तत्तथा, एवंविधमिदं **ख्यापितं** सर्वत्र प्रकाशितम्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कैरित्याह—**अवन्यां** पृथिव्यां **विख्याताः** प्रसिद्धा ये **संख्याविदः** विचक्षणास्तेषां **मुख्याः** आद्या गणधर-युगप्रधानादयस्तैः। अयमभिप्रायः—आदौ तावन्निजगदे तीर्थकृद्भिरिदम्, ततोऽपि श्रुतनिबन्धनेन स्वयं परैश्च करण-कारणादिभिः सप्रभावत्वेन प्रकाशितमिति। तथा **आशु** शीघ्रं **शाश्वतं** नित्यं **सुखम्** आनन्दो यत्रासौ शाश्वतसुखो मोक्षस्तस्य **श्रीः** लक्ष्मीस्तया सह **वल्गुः** रचितः **पाणिग्रहो** विवाहोऽर्थात्तत्कर्तृणां येन तपसा तत्तथा। एवं तावत् फलं सप्रपञ्चमुपदर्श्य सांप्रतं तत्करणविधिर्माह—**आशंसा** इहलोकादिभोगादिप्रार्थना, **आदि**शब्दाद् दुष्टाध्यवसायवशविविध-निदानग्रहः, **तैर्विमुक्तं** त्यक्तं निराशंसमित्यर्थः। तथोक्तः सिद्धान्तप्रतिपादितो यो **विधिः** –

सो हु तवो कायव्वो जेण मणो मंगुलं न चिंतेइ।
जेण न इंदियहाणी जेण य जोगा न सीयंती॥

[ ]

इत्यादिको विधानप्रकारस्तेन। कीदृशैः कर्त्तव्यमित्याह—**श्रद्धा** सातिशय-तत्करणवाञ्छा, तया **विशुद्धो** निर्मल **आशयश्चित्तं** येषां ते तथा। तैः कैः करणैरित्याह—**शक्तिस्तपो** विधानसामर्थ्यं **व्यक्तिश्चान्द्रायणादेस्तपसस्त-**पोऽन्तरेणामिश्रणम्। यद्वा स्वतपस एव तपोदिनान्तरैः सहामिश्रणम्। अथवा विकृतिद्रव्यादेर्भेदेन व्यवस्थापनम्। यथा निर्विकृतिके उत्कटखण्डशर्करादि-द्रव्यपरिहारो रात्रौ चतुर्विधाहारवर्जनं दिवापि त्रिविधाहारप्रत्याख्यानमिति। तथा **सुष्ठु** शोभना **भक्तिः** तीर्थकरोपदिष्टमिदमभीष्टफलदं चेति सुबहुमानः। तथा **रक्ति**र्ब्राह्मणस्येव घृतपूर्णादिभोजने सातिशयोऽनुरागस्ततश्च शक्तिश्च व्यक्तिश्चेत्यादि द्वन्द्वस्ताभिः। किमित्याह—**अभिध्येयं** कर्त्तव्यतयाऽनशनादिकम्,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न केवलमभिध्येयम्, **विधेयं** च कर्त्तव्यं **तप** इति, आन्तरकार्मणशरीर-तापनात्तपोऽनशनादिकं भव्यैरिति प्रकृतम्। अयमभिप्राय:—अनुध्याने सत्यपि यावन्न क्रियया तत्र प्रवृत्यते तावन्न फलसिद्धि:। *क्रियैव फलदा पुंसां न ज्ञानम्* [ ] इत्यादि वचनात्। तत्रापि न शक्त्यादिचतुष्टयाभावे तथाविधफलावाप्तिरित्येतच्चतुष्टयमुक्तमिति। *प्रौढायां कस्तयुक्तश्च* [रुद्रट० काव्यालं० २। २४] इति वचनादत्र प्रौढा नाम वृत्ति:। तथाऽत्र *लाटीया पञ्च सप्त वा यावद्* [रुद्रट० काव्यालं० २। ४] इति वचनाल्लाटीया नाम रीतिरिति वृत्तद्वयार्थ:॥ ७॥

अथ गुणिजने सक्तिरिति तृतीयं द्वारं फलोपदर्शनद्वारेणोपदिशन्नाह—

ज्ञानादित्रयवान् जनो गुणिजनस्तत्सङ्गमात् सम्भवे
स्नेहस्तेषु स तत्त्वतो गुणिगुणैकात्म्याद् गुणेष्वेव यत्।
तस्मात् सर्वगसद्गुणानुमननं तस्माच्च सद्दर्शना-
द्यस्मात् सर्वशुभं गुणिव्यतिकर: कार्य: सदाऽऽर्यैस्तत:॥ ८॥

व्याख्या—ज्ञानं सम्यगवबोधस्तदादिर्ययोर्दर्शन-चारित्रयोस्ते ज्ञानादयो गुणा:, तद्गुणसंविज्ञानोऽयं बहुव्रीहि:, तेन ज्ञानादीनां **त्रयं** त्रितयं तद्विद्यते यस्य **जनस्य** असौ ज्ञानादित्रयवान् **जन:** आचार्यादिलोक:। किम्? **गुणी** गुणवान् **जन:** गुणिजन: पूज्यलोक:। तत: किमित्याह—तैर्गुणिभि: सह **सङ्गमात्** आलापादिसम्पर्कात् सम्पद्येत **स्नेहो** धर्मानुरागस्तेष्वाचार्यादिषु। ततोऽपि किमित्याह—यद् **यस्मात्** स स्नेह: **तत्त्वत:** परमार्थवृत्त्या **गुणेष्वेव** ज्ञानादिषु। ननु गुणिषु स्नेह: कथं गुणेषु स्यात् व्यधिकरणत्वादत आह—**गुणिनाम्** आचार्यादीनां **गुणै:** ज्ञानादिभि: **सहैकात्म्यात्,** एकोऽभिन्न आत्मा स्वरूपं येषां ते तथा, तेषां भावस्तस्मादभेदादित्यर्थ:। न हि कदाचिदात्मन: सकाशाद्भिन्नदेशत्वेनोपलभ्यन्ते ज्ञानादय:।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समवायात्तथेति चेत्? तन्न, तस्य निराकृतत्वात्, तन्निराकरणं च विशेषतो-ऽभयदेवादिग्रन्थात् ज्ञेयम्। तथा च गुण्यनुरागो गुणानुराग एवेति न वैयधिकरण्यम्। **यदि**ति योजितमेव। यस्माद् गुणिरागो गुणराग एव, गुणाश्च सर्वत्रैकरूपा एव, ततस्**तस्मादे**कत्र गुणिनि रागे कृते, सर्वेष्वेव गुणिषु गच्छन्ति तिष्ठन्तीति **सर्वगास्ते** च ते **सद्गुणाश्च** शोभनज्ञानादिधर्माश्च तेषा**मनुमननम्** अनुमोदनं भावप्रतिपत्तिरूपं कृतं स्यादिति शेषः। ततोऽपि किमित्याह—**तस्माच्च, चः** पुनरर्थस्तस्मात् सद्गुणानुमननात् सम्यक्त्व-बीजभूतात्। किमित्याह—**सत्** शोभनं **दर्शनं** सम्यक्त्वं क्षायोपशमि-कादिकम्, **आदि**शब्दात् क्रमशश्चारित्र-क्षपकश्रेण्यादिकमपि स्यात्। अतोऽपि किमित्याह—**अस्मात्** सद्दर्शनादेः **सर्वं शुभं** समस्तं स्वर्गा-पवर्गादि कल्याणं स्यात्। **तत** इत्यन्ते वर्त्तमानं पदमत्र योज्यते। यत एवंगुणो **गुणिव्यतिकर** आचार्यादिसम्पर्कस्ततः **कार्यः** विधेयः **सदा** सर्वकालम्, न तु कदाचिदेव। कैरित्याह—आराद्दूरे यान्ति पापेभ्य इ**त्यार्याः** शिष्टास्तैरिति कर्तृपदम्। अयमभिप्रायः—गुणिरागमन्तरेण न सर्वगुणिगुणानुमननम्, तदन्तरेण च न सद्दर्शनादिकम्, तदन्तरेण च न सर्वशुभावाप्तिरिति सर्वकल्याणमूलत्वादस्यावश्यकर्त्तव्यत्वोपदेश इति वृत्तार्थः ॥ ८॥

अथ निदर्शनालङ्कारेण प्रभूतासम्पद्यमानपदार्थसम्पत्तिदृष्टान्तेन गुणिजनसम्बन्धव्यतिरेकेण धर्मसम्पत्त्यभावमाह—

स स्नातश्चन्द्रिकाभिः स च किल मृगतृष्णाजलैरेव तृप्तः
खाब्जैर्मालां स धत्ते शिरसि स शशशृङ्गीयचापं बिभर्त्ति।
मथ्नात्येष स्थवीयस्थलतलसिकतास्तैलहेतोर्य उज्झन्
सङ्गं ज्ञानक्रियावद्गुणिभिरपि परं धर्ममिच्छेच्छिवाय॥ ९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—यो गुणिसम्बन्धमुज्झन् धर्ममिच्छेत् स चन्द्रिकास्नानादिकं कुर्यादिति सम्बन्धः। **यः** कश्चिदविवेकी पुरुषः **सङ्ग**मालापादि-सम्पर्क**मुज्झन्** परित्यजन्। कैः सहेत्याह—**ज्ञानं** च **क्रिया** च प्रत्युपेक्षादि-समाचारी, ते विद्येते येषां ते ज्ञान-क्रियावन्तस्ते च ते **गुणिनश्च** पूर्वोक्तास्तैरपि, आस्तां निर्गुणैरित्यपेरर्थः। किमित्याह—**इच्छेत्** अभिलषेत् **धर्मं** निःश्रेयसानुगुणमनुष्ठानम्। कीदृशम्? **परं** प्रकृष्टमक्षेपेण मोक्षसाधकं कर्तुमिति शेषः। किमर्थम् इत्याह—**शिवाय** मोक्षायेति। **स** गुणिसङ्गत्यागी परमार्थतः किं किं कुर्यादित्याह—**स्नातः** स्नानं कृतवान्। काभिरित्याह—**चन्द्रिकाभिः** चन्द्रज्योत्स्नाभिः, न खलु सलिलसाध्यं स्नानमसलिल-रूपाभिर्ज्योत्स्नाभिः सम्भवति, परं स तदपि कृतवान्। अन्यदपि किमसौ कृतवानित्याह—**स च** गुणसम्पर्कत्यागी, **किले**त्यलीके, **तृप्तः** सौहित्यवान् सम्पन्नः। कैरित्याह—ग्रीष्मे मरौ तप्तभूमिषु स्वच्छासु प्रतिफलिता दिवा-करकरा एव **मृगतृष्णा**, **सैव** जलाकारतया भ्रान्त्या प्रतिभासनाज्**जलानि** सलिलानि **तैरेव**, न तु पारमार्थिकैरित्यवधारणार्थः। वक्ष्यमाणवाक्यत्रये **धत्ते** बिभर्त्तीत्यादि वर्त्तमाननिर्देशेऽपि, यदत्र वाक्यद्वये स्नात इत्याद्यतीत-कालनिर्देशः सोऽत्यन्तमुग्धस्य गुणिसङ्गवर्जनेन धर्मेच्छामात्रेणाप्यसत्कार्यस्य सिद्धत्वख्यापनार्थस्तेन वक्ष्यमाणेष्वपि त्रिषु सिद्धत्वमेव बोद्धव्यमिति भावः।

तथा **स** पुरुषः **खाब्जैः** गगनकमलैः करणभूतै**र्मालां** स्रजं **धत्ते** विभूषार्थं धारयति **शिरसि** मस्तके, न चाकाशे कमलसम्भवः। तथा स पुरुषः **शशशृङ्ग**जातं गेहादित्वादीये[1] **शशशृङ्गीयं** तच्च **तच्चापं** च धनुश्च **बिभर्त्ति** बाणसन्धानाय धारयति। न च शशे शृङ्गसम्भवः। तथा **मथ्नाति**

१. 'गहादिभ्यः [सि० ६। ३। ६३] एभ्यो यथासम्भवं देशार्थेभ्यः शेषे ईयः स्यात्। गहीयः।' **सिद्ध० लघु०**। गहादिभ्यश्च। ४। २। १३८। १३६४–**पा०सिद्धान्त०**।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिलयन्त्रे निपीडयति। **एष** गुणिसङ्गत्यागी। का इत्याह—**स्थवीयांसि** अत्यन्तस्थूलानि यानि **स्थलतलानि** सिकताकूटविशेषास्तेषाम्, **सिकता** वालुकास्ताः। स्थूलशब्दस्य ईयन्सि प्रत्यये अन्तस्थालकारलोपे गुणे च स्थवीयांसीति भवति। किमर्थम् इत्याह—**तैलहेतोः** तिलनिर्यासनिष्पत्ति-निमित्तम्, न च कदाचित् सिकतासु तैलसम्भवः। आदौ निदर्शनालङ्कारेणेत्युक्तम्, तत्र निदर्शनलक्षणं त्वेवम्—*अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमा-परिकल्पकः* [काव्यप्रकाश सूत्र १५०] इति। तदत्र सत्सङ्गं विना यः सद्धर्मान्वेषी स चन्द्रिकाभिः स्नात इत्युक्तम्। चन्द्रिकास्नानं च नासौ करोतीति वस्तुसम्बन्धाभावे उपमानोपमेयभावः प्रवर्त्तते। यथा चन्द्रिकाभिः स्नानमसम्भवि तथा सत्सङ्गाभावे धर्मोऽपीति। एवं मृगतृष्णा- तृष्ण्या तृष्णादिचतुष्टयेऽपि योज्यम्। तस्माद्धर्मार्थिनाऽवश्यं सत्सङ्गो विधेय इत्युपदेश इति वृत्तार्थः॥ ९॥

अथाऽर्थे विरक्तिरिति चतुर्थं द्वारमर्थदोषप्रदर्शनपुरस्सरं विवृण्वन्नुपदेशमाह—

त्वग्भेदच्छेदखेदव्यसनपरिभवाप्रीति-भीति-प्रमीति-
क्लेशाविश्वासहेतुं प्रशमदमदयावल्लरीधूमकेतुम्।
अर्थं निःशेषदोषाङ्कुरभरजननप्रावृषेण्याम्बु धूत्वा
लूत्वा लोभप्ररोहं सुगतिपथरथं धत्त सन्तोषपोषम्॥ १०॥

व्याख्या—अर्थं धूत्वा सन्तोषपोषं धत्तेति सम्बन्धः। कीदृशमर्थम् इत्याह—**त्वचः** शारीरचर्मणो **भेदस्तप्तसन्दंशादिना** विदारणम्, **छेदः** कर्त्तनं हस्तादेः, **खेदः** उपार्जनादौ शारीरः श्रमः, **व्यसनं** राज-चौराद्युपद्रवः, **परिभवः** कदाचिन्नृपेण बन्दिप्रक्षेपेऽत्यन्तनीचकर्मकरादेरप्याक्रोशताडनादितिरस्कारः, **अप्रीतिः** लोभाभिभूतपितृपुत्रादेरपि स्नेहध्वंसः, **भीतिः** नृप-दायाद-चौरादेस्त्रासः, **प्रमीतिर्**मरणमपि कदाचित्, **क्लेशः** कदाचिद-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहारादौ मानसी विबाधा, **अविश्वासः** पुत्रमित्रादेरप्यविश्रम्भः, ततश्च त्वग्भेदश्च छेदश्चेत्यादि द्वन्द्वे तेषां **हेतुः** कारणम्। अनेनानर्थहेतुत्वमर्थस्योक्तम्। अथार्थध्वंसकत्वमाह—**प्रशमः** क्रोधाभावः, **दमः** इन्द्रियजयः, **दया** निर्निमित्तपरदुःखप्रहाणेच्छा ता एव धार्मिकाणामनवरतप्रसरणशीलत्वात् साधर्म्याद्वह्न्यः वह्नयस्तासां सर्वथा दाहकत्वाद्धूमकेतुर्वैश्वानरः। अर्थे हि सति प्रायः स्वल्पेऽप्यपराधे महान् क्रोधः सर्वेन्द्रियविषयलाम्पट्यं परवञ्चन-मारणे च भवन्ति। दृश्यन्ते हि सम्प्रत्यपि धनिभिः स्वधनविधानी-करणानन्तरं कारागृहानीतपुरुषा व्यापाद्यमानाः। एवंविध**मर्थं** कनकरत्नादि-लक्ष्मीरूपं वित्तम्। तथा **निःशेषाः** समस्ता ये **दोषाः** राग-द्वेष-मत्सरेर्ष्यादयः त एव चौर्य-पारदारिकत्व-द्रोहादिमहाविटपिनिबन्धनत्वाद**ङ्कुराः** प्रथमोद्भेदा-स्तेषां **भरः** प्राग्भारस्तस्य **जननम**ुत्पादनं तत्र **प्रावृषेण्याम्बु** वर्षाकालजलम्, तेन ह्यङ्कुरा अत्यन्तं वर्द्धन्त इति कृत्वा। किमित्याह—**धूत्वा** विक्षिप्य सर्वथा परिहृत्येत्यर्थः, न केवलमर्थं धूत्वा किन्तु तदङ्गीकारहेतुं **लोभप्ररोहं** च लोभो गार्द्ध्यं स एव नानादुश्चिन्तालताप्रादुर्भावकत्वात् **प्ररोहः** अङ्कुरस्तं च **लूत्वा** सर्वथोन्मूल्य चकारोऽत्र लुप्तो द्रष्टव्यः। ततः किमित्याह—**धत्त** धारयत भो भव्या इति प्रकृतम्। कमित्याह-**सन्तोषः** परिग्रहेच्छानिवृत्ति-स्तस्य **पोषः** वृद्धिस्तम्। कीदृशमित्याह-**सुगतेः** स्वर्गापवर्गादिरूपायाः शोभनगतेः **पन्थाः** प्राप्तिमार्गः सच्चारित्रादिस्तत्र **रथं** स्यन्दनम्, स्यन्दनेनेव सन्तोषपोषेण सच्चारित्रमार्गगमनेन सद्गतिपुरी प्राप्यत इति भाव इति वृत्तार्थः॥ १०॥

अथ संसृष्ट्यलङ्कारेणार्थविरक्तिविशेषसम्पादनार्थमर्थस्य दोष-विशेषानाह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निद्रामुद्रां विनैव स्फुटमपरमचैतन्यबीजं जनानां
लक्ष्मीरक्ष्णोऽन्धभावः प्रकटमपटलः सन्निपातोऽत्रिदोषः।
किञ्च क्षीराब्धिवासिन्यभजदिममपां सर्पणान्नीचगत्वं
कस्रेलेभ्यश्चलत्वं स्मृतिमतिहरणं कालकूटच्छटाभ्यः॥ ११॥

व्याख्या—किञ्चेति पदं वृत्तमध्यस्थितमभ्युच्चयार्थमादौ द्रष्टव्यम्। ततश्च लक्ष्मीरचैतन्यबीजं वर्त्तत इति क्रियाध्याहारः। **निद्रामुद्रां** स्वापावस्थां **विनैव** अन्तरेणापि। मुद्राशब्दः शोभावचनः। **स्फुटं** व्यक्तम् **अपरं** प्रसिद्धनिद्रायाः सकाशादन्यत्। किमित्याह—**अचैतन्यबीजम्** अचेतनतायाः पदार्थाननुभवस्य कारणं **जनानाम्** ईश्वरलोकानाम्। केत्याह—**लक्ष्मीः** धन-कनकादिसमृद्धिः, ईश्वरो हि प्रायः किमपि न चेतयत इति भावः। तथा **प्रकटं** व्यक्तं यथा भवत्येवमेषा **अक्ष्णः** चक्षुरिन्द्रियस्य**आपटलः** पटलं नीलीरूपो नेत्ररोगविशेषस्तदभाववा**नन्धभावो**ऽदर्शनसद्भावः। पटलं हि प्रायेणान्ध्यनिमित्तमियं तु तद्विनाऽपि दर्शनाभावनिमित्तम्। तथा चोच्यते—

लच्छीकरकमलवियासरेणुपूरिज्जमाण नयणेहिं।
पासट्ठिया वि दीसंति नेव रोरा धणड्ढेहिं॥

[ ]

तथेयं लक्ष्मीः **सन्निपातः** समस्तशरीरचेष्टानिरोधकृद् व्याधिविशेषः। कीदृश इत्याह—**न** विद्यन्ते **त्रयो दोषा** वात-पित्त-श्लेष्मप्रकोपविशेषरूपा यत्र स तथा। सन्निपातो हि सर्वदापि त्रिदोषज एव, लक्ष्मीः पुनस्तदभावेऽपि सर्वथा विशिष्टचेष्टापहारिणीति भावः। **किञ्चेति** योजितमेव। इयं हि लोके **क्षीराब्धिवासिनी** इति प्रसिद्धा। ततश्चेयं लक्ष्मीः **नीचगत्व**मधम-पुरुषानुसरणं नूनम् **अपां** जलानां सर्पणात् नीचप्रदेशगमनाद् **अभजद**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आशिश्राय। तत्र हि जलानि नीचगामिनि। तैः सहैकत्र वासात्तद्गुणग्रहस्तिलानामिव चम्पककुसुमगन्धग्रहः, इह इवादिशब्दस्योत्प्रेक्षावाचकस्याभावेऽपि वस्तुवृत्त्या जलेभ्यो नीचगत्वस्य भजनात् कविनोत्प्रेक्ष्यत एवेत्युत्प्रेक्षा। एवं वक्ष्यमाणवाक्ययोरपि नीचशब्दश्च निम्नाधमवाचकत्वेन श्लिष्टः। तथा **कल्लोलेभ्यो** वीचिभ्यस्तथैव **चलत्वं** चञ्चलत्व**मभजदिति** योगः, इयमप्युत्प्रेक्षैव। ईश्वरो हि प्रायश्चञ्चल एव चित्तेन भवति। तदत्रापि चल-शब्दः श्लिष्टः। तथा **स्मृतिरनुभूतस्य** स्मरणम्, **मतिः** बुद्धिस्तयोर्**हरणं** नाशनमर्थादीश्वरस्य लक्ष्मीरभजत्। कुतः? **कालकूटच्छटाभ्यः** सद्योघातिविषप्रवाहेभ्यः। कालकूटमपि क्षीरोदधौ वसतीति लोकप्रसिद्धिस्ततस्तत्सहवासात् स्मृत्यादिध्वंसगुणग्रहः। इयमपि पूर्ववदुत्प्रेक्षैव। अत्र चादौ संसृष्ट्यलङ्कारेणेत्युक्तम्, तल्लक्षणं त्वेवम्—*सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः* [काव्यप्रकाश सू० २०७] इति। एतेषामलङ्काराणां तदत्र विभावनोत्प्रेक्षयोर्भिन्नयोर्व्यक्ततया प्रकाशोऽस्ति। तथाहि-आद्यार्द्धे अचैतन्यादिकारणभूतानां निद्रादीनामभावेऽस्य चैतन्यादिकार्याणां सद्भावः प्रतिपादितस्ततः कारणाभावेऽपि कार्यसद्भावाद्विभावना। तथा च तल्लक्षणं-*क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना।* [काव्यप्रकाश सू० १६२] इति। द्वितीयार्द्धे तु नीचगत्वादीनां जलसर्पणादिभ्य उत्प्रेक्षितत्वादुत्प्रेक्षा। तल्लक्षणमप्येवं-*सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्* [काव्यप्रकाश सूत्र १३८] इति। तदेवमनयोर्द्वयोरर्थालङ्कारयोर्व्यक्ततयाऽत्र प्रकाशनात् संसृष्टिरिति। एवं च त्वग्भेदादीनामचैतन्यादीनां नीचगामित्वादीनां चानेकेषां दोषाणामर्थे सद्भावादिहलोके परलोकेऽपि तत्रासक्तौ नानानारकादियातनाभावाद्भव्यानां विवेकिनामर्थे विरक्तिरेव युक्तेति भाव इति वृत्तार्थः॥ ११॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रीतिस्तत्त्व इति पञ्चमं द्वारं विवरीषुः सप्रभेदनवतत्त्वप्रतिपादनपुरःसरं तेषु श्रद्धानोपदेशमाह—

जीवा भूरिभिदा अजीवविधयः पञ्चैव पुण्यास्रवौ
भिन्नौ षड्गुणसप्तधा प्रकृतयः पापे द्व्यशीतिः स्मृताः।
भेदान् संवरबन्धयोः पृथगथाहुः सप्तपञ्चाशतं
मोक्षो देशविनिर्जरेति च नव श्रद्धत्त तत्त्वानि भोः!॥ १२॥

व्याख्या—जीवितवन्तो जीवन्ति जीविष्यन्तीति **जीवाः** औपशमिकादिभावान्विताः साकारानाकारप्रत्ययलाञ्छनाः शब्दादिविषयपरिच्छेदिनोऽतीतानागतवर्त्तमानक्रियासु एककर्तृत्वप्रतीतिहेतवस्तत्फलभुजोऽमूर्त्तस्वभावाः सत्त्वाः **भूरिभिदा** अनेकप्रकाराः एक-द्वित्र्यादिभिस्तदवान्तरैश्चासंख्येयाऽनन्तादिभिर्भेदैः प्रत्येकं नानारूपत्वात्। तथाहि—चेतनालक्षणत्वेनैकविधो जीवः। भवस्थ-सिद्धरूपतया तु द्विविधः, भवस्थोऽपि भव्याभव्यरूपतया त्रसस्थावररूपतया वा द्विविधः। स्त्रीपुन्नपुंसकतया त्रिविधः। नारकतिर्यग्नरामरभेदाच्चतुर्विधः। त्रसादिविशेषविवक्षया चैक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चेन्द्रियरूपतया पञ्चविधः। पञ्चविधोऽपि चायम् अनिन्द्रियसिद्धसहितः षड्विधः। भूजलानलानिलवनस्पतित्रसरूपतया वा षड्विधः। भूजलादिषड्विधोऽप्यकायसिद्धसहितः सप्तविधः। अण्डज १ पोतज २ रसज ३ जरायुज ४ संस्वेदज ५ सम्मूर्च्छनज ६ उद्भिज्ज ७ औपपातिक ८ भेदादष्टविधः। पृथिव्यादयः पञ्च द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चेन्द्रियश्चेति नवविधः। नारकाणां नपुसंकत्वेन तिर्यग्नरयोश्च प्रत्येकं स्त्रीपुन्नपुंसकत्वेन, सुराणां च पुंस्त्रीरूपत्वेन वा नवविधः। पृथिव्यादयश्चतुरिन्द्रियान्ता अष्टौ पञ्चेन्द्रियस्त्वसंज्ञिसंज्ञिभेदाद् द्विविध इति दशविधः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अयमेव सिद्धैः सहैकादशविधः। पृथिव्यादिभिस्त्रसान्तैः षड्भिरपर्याप्त-पर्याप्तभेदाद् द्वादशविधः। स एवाशरीरसिद्धसहितस्त्रयोदशविधः। सूक्ष्मेतरैरे-केन्द्रियैर्द्वित्रिचतुरिन्द्रियैरसंज्ञिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियैश्चापर्याप्तपर्याप्तभेदाच्चतुर्दशविधः। तथा चोक्तम्-

एगिंदिय सुहुमियरा सन्नियरपणिंदिया सबितिचउरो।
पज्जत्तापज्जत्तगभेएणं चउद्दसग्गामा॥

[ ]

एवं पञ्चदशविधत्वादयोऽपि भेदाः स्वधिया प्रेक्षावद्भिरभ्यूह्यन्त इति, जीवा भूरिभिदाः स्मृता इति योगः। एते च प्रत्यक्षानुमानागमगम्याः। तत्र प्रत्यक्षं तावदहं सुखी अहं दुःखीत्यादि स्वसंवेदनम्। अनुमानं तु जीवच्छरीरं प्रयत्नवदधिष्ठितं प्रतिनियतक्रियावत्त्वात् सूताधिष्ठितस्यन्दनवत्। अथवा नयननिमेषोन्मेषादिक्रिया प्रयत्नवत्कर्तृका प्रतिनियतक्रियात्वात् पुरुषाधिष्ठित-दारुयन्त्रक्रियावत्। योऽत्र कर्त्ता प्रयत्नवान् स एव चेतन आत्मेति, न चासौ शरीरेन्द्रियादिष्वन्यतमस्तेषां भूतपरिणामरूपतया घटादिवद-चेतनत्वात्। न च गुड-धातक्यादीनां मद्याङ्गानां मदशक्तिरिव शरीरादिरूप-परिणतिविशेषापन्नानां भूतानामपि चैतन्यं भविष्यतीति वाच्यम्। तत्रापि तदारम्भकपरमाण्वादीनां तावत् प्रत्येकं चैतन्ये एकस्मिन्नेव देहादावनेक-चेतनसद्भावात् नैकमत्येन प्रवृत्त्यादयः स्युः। यदि तु समुदितानामेव चैतन्यं तदा हस्तादिच्छेदेऽनुभव-स्मृत्यादयो न भवेयुः। एकावयवापगमेऽपि समुदायस्याभावात्। तस्माद्भूतव्यतिरिक्तोऽन्य एव कश्चिद्देहाधिष्ठाता जीव इतिं। आगमश्च *'एगे आया'* [स्थानाङ्ग० सू० १] इत्यादि। तथा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उवओगलक्खणमणाइनिहणमत्थंतरं सरीराओ।
जीवमरूवं कारिं भोइं च सयस्स कम्मस्स॥

[ ]

तथा प्रमाता स्वान्यनिर्भासी कर्त्ता भोक्ता विवृत्तिमान् स्वसंवेदनसंसिद्धो जीवः क्षित्याद्यनात्मक इति। समस्ततत्त्वप्रतिपादकस्तु—

जीवाजीवा पुन्नं पावासवसंवरो य निज्जरणा।
बंधो मुक्खो य तहा नव तत्ता होंति नायव्वा॥

[नवतत्त्व० १]

पुण्यपापयोर्बन्धान्तर्भावे **वाचकमुख्येना**प्युक्तम्—*जीवाजीवास्रव-संवरनिर्जराबन्धमोक्षास्तत्त्वम्* [तत्त्वार्थ० १।४] इति। प्रमाणत्रय-सिद्धत्वेन तत्त्वरूपत्वाच्छ्रद्धानयोग्या जीवाः, एवमजीवादयोऽपीत्यत एषामत्र श्रद्धानोपदेशः। **अजीवविधय** इति, पूर्वोदितजीवलक्षणविकला अजीवा अचेतनपदार्थास्तेषां विधयः विधानानि प्रकारा इत्यर्थः। **पञ्चैव** इति पञ्चसंख्या एव, धर्मास्तिकाय–अधर्मास्तिकाया–ऽऽकाशास्तिकाय-काल-पुद्गलास्तिकायभेदात्। एतच्च मूलभेदापेक्षयाऽवधारणं द्रष्टव्यम्। तदवान्तरभेदविवक्षया तु तेऽपि चतुर्दशविधाः। तथाहि—धर्मास्तिकायादय-स्त्रयोऽपि प्रत्येकं द्रव्य–देश–प्रदेशभेदात्त्रिधेति नवविधाः, समयादिरूपस्तु काल एकविध एवेति दशविधत्वम्। पुद्गलास्तिकायस्तु स्कन्ध-देश-प्रदेशरूपतया केवलपरमाणुरूपतया च चतुर्विधः, इति सर्वमीलने चतुर्दशविधत्वमजीवानाम्। तदुक्तम्—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धम्माधम्मागासा तिय तिय भेया तहेव अद्धा य।
खंधा देसपएसा परमाणु अजीव चउदसहा॥

[नवतत्त्व० ५]

एषां च प्रत्यक्षानवगम्यत्वेऽपि गति-स्थाना-ऽवगाहन-वर्त्तनादिलिङ्ग-गम्यत्वम्, तत्र धर्मास्तिकायस्य तावज्जीवादयो द्रव्यविशेषावष्टब्धा गतिपरिणामवन्तो द्रव्यत्वाज्जलावष्टब्धमत्स्यवत्। न च मत्स्यादीनामपि तन्निरपेक्षा गतिरिति वाच्यम्। अन्तर्व्याप्तिबलेन सकलगतिप्रयोजक-त्वेनानुमितस्य निखिललोकव्यापकस्य धर्मास्तिकायस्य तत्रापि विद्यमानत्वात्, न हि परेणापि दृश्यकुलालादिनिर्वर्त्यकुम्भादिकार्ये सकलकार्यप्रयोक्तुरदृश्यमानस्यापीश्वरस्य प्रयोक्तृत्वं नेष्यते। तस्मात् यज्जीवादीनां गतिपरिणामावष्टम्भकं तद्धर्मास्तिकायद्रव्यमिति। एवम-धर्मास्तिकायादिष्वपि वाच्यम्। आगमश्चात्रोपदर्शित एव द्रव्य-देश-प्रदेशस्वरूपाभिव्यक्तिश्च ग्रन्थान्तरादवसेयेति। इह च जगति द्वावेवैतौ जीवाजीवौ पदार्थौ शेषाणां त्वास्रवादीनामशेषाणामपि तत्त्वानां जीवाजीवपरिणामविशेषरूपत्वेन कथञ्चित्तदव्यतिरिक्तत्वात्। तथाहि— जीवस्यैव पुद्गलरूपकायवाङ्मानसानां व्यापरणरूपः परिणामस्तावदास्र-वस्तस्माच्च शुभाशुभकर्मप्रकृतिप्रायोग्यकर्मवर्गणानामात्मप्रदेशैः सम्बन्ध-लक्षणो बन्धोऽपि तदव्यतिरिक्तस्तत्परिणाम एव, ततोऽनयोरत्यन्त-व्यतिरेके हि आत्मनोऽबद्धत्वात् संसारित्वाभावः स्यात्। एवं पूर्वोदितास्रव-निरोधलक्षणः संवरोऽपि तत्परिणाम एव। यतो ययोरेवाङ्गुल्योः स्वकारणात् पूर्वं संयोगोऽभूत्तयोरेव विघटननिमित्तप्रयत्नादिनिबन्धनो विभागोऽपि, न पुनरसावन्यधर्मस्तथा सति तयोः संयोगो न निवर्त्तेत, न हि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हिमवद्विन्ध्ययोः श्लेषाभावे मेरु-नन्दनवनयोः श्लेषो निवर्त्तत इति। एवमिहापि निवर्त्यनिवर्त्तकयोरास्रवसंवरयोर्निवर्त्यनिवर्त्तकभावस्तद्धर्मत्व एव, न तु तद्व्यतिरिक्तधर्मत्वेऽपि। एवमेकदेशकर्मक्षयलक्षणा निर्जराऽपि सर्वकर्मक्षयलक्षणो मोक्षोऽपि जीवाजीवाव्यतिरिक्तपरिणामरूप एवेति। तथा च सति कथञ्चित् परस्परतः साध्यसाधनादिभावविवक्षया तत्त्वानां सप्तत्वम्। पुण्यपापयोरपि बन्धात् कथञ्चिद्भेदविवक्षया नवरूपत्वम्। तथा च वक्ष्यति। 'सप्त द्वे नव वेत्यवेत बहुधा तत्त्वं विवक्षावशाद्' इति, तेन विवक्षातः सप्त-नवरूपत्वम्, परमार्थस्तु द्वित्वमेवेत्यभिप्रायः।

तथा **पुण्यास्रवा** इति, विधिविहितविशिष्टानुष्ठानसाध्यः प्रशस्ततीर्थकरत्वसातसौभाग्यादिसाधकः शुभात्मपरिणामविशेषः पुण्यम्, एतदप्यनुमानागमप्रतीतम्। तत्रानुमानं तावत् प्राणिनां लावण्यानन्दविशेषादिकं कारणविशेषजन्यं कार्यविशेषत्वात्। रसायनादिजन्यवपुःपुष्टिवत्। न त्वकारणं कार्यम्, आकस्मिकस्य हि नित्यं सत्त्वासत्त्वयोः प्रसङ्गात्। तस्माद्यदत्र कारणं तत्पुण्यं कर्मेति। न चात्र कर्मान्तराणां तद्धेतुता सम्भवति, तेषां प्रतिनियतज्ञानावारकत्वादिप्रातिस्विककार्यमात्रहेतुत्वेनैव सिद्धत्वात्। अयमभिप्रायः—आत्मा हि तावदास्रवेण मूलोत्तरकर्मप्रकृतीर्बध्नाति। तत्राप्युत्तरप्रकृतय एव पुण्यापुण्यसंज्ञकाः, न मूलप्रकृतयस्तासां ज्ञानावरणादिसंज्ञाभिधेयत्वात्। कथमेतदेवमिति चेदुच्यते—आस्रवो हि शुभाशुभरूपतया द्विविधस्तत्र च शुभास्रवजनितो बन्ध एव पुण्यशब्दवाच्यो यतस्तीर्थकरत्वादिद्विचत्वारिंशत्प्रकृतिप्रादुर्भावः। अशुभास्रवजनितस्तु पापशब्दवाच्यो यतोऽनिष्टगत्यादिद्व्यशीतिप्रकृतिप्रादुर्भावः। यद्यपि च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थकरत्वंनामादयोऽपि भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयोत्तरप्रकृतय एव। तथापि शुभास्रवजनितपुण्यशब्दवाच्यबन्धादेव प्रादुर्भवन्तीति। तज्जन्या अभिधीयन्त इति। इह च स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धशुभप्रकृतिस्वभावलावण्यादिदृष्टान्तावष्टम्भेन शेषाणामपि तीर्थकरत्वादिशुभप्रकृतीनां तत्कारणताऽनुमातव्येति। तथाहि—तीर्थकरत्वादयोऽपि पुण्यजन्याः शुभप्रकृतित्वाल्लावण्यानन्दादिवत्। अथवा स्रक्चन्दनादीनि सुखसाधनानि देवदत्तसम्बद्धद्रव्यविशेषाकृष्टानि देवदत्तमुपसर्पन्ति। तं प्रति नियतोपसर्पणवत्त्वात्। कामुकविहितातिलकाकृष्टयोषिदादिवत्, यत्तदाकृष्टिहेतुद्रव्यं तत् पुण्यमिति। अत्र च हेतौ प्रतिनियतेति विशेषणं पवनप्रेरितपताकादिनाऽनैकान्तिकत्वपरिहारार्थम्। न च देवदत्तगुणाकृष्टाः पश्वादयो देवदत्तमुपसर्पन्ति, तं प्रतिनियतोपसर्पणत्वात्, तत्प्रयत्नप्रेरितग्रासादिवदित्यनेन तस्यादृष्टरूपगुणसाधनेन बाधितत्वात् कालात्ययापदिष्टत्वमस्येति वाच्यम्। अष्टविधस्यापि कर्मणो वक्ष्यमाणेन सकलदोषविकलेनानुमानेन द्रव्यत्वस्य सिद्धेर्गुणत्वप्रसाधकस्यास्यापहृतविषत्वेनोत्थानस्यैवासम्भवादिति। किञ्च, संसारस्य जीवस्य चानादित्वादेकत्र च भवेऽनन्तं कालमनवस्थानादवश्यं भवान्तरगामित्वमप्यस्याङ्गीकर्त्तव्यम्। न च युक्तिविकलतया केवलागमाश्रयणरूपत्वेनास्य पक्षस्याभिधानमयुक्तमिति वाच्यम्। अत्रार्थे उपपत्तेरपि भावात्। तथाहि—तदहर्जातस्य स्तन्यादौ प्रवृत्तिस्तदभिलाषपूर्विका तादृक्प्रवृत्तित्वात्, मध्यदशाप्रवृत्तिवत्। अभिलाषश्च न संस्कारानुभवादन्तरेण। न च तत्र भवे तस्य तदर्थानुभवस्ततो नूनं भवान्तरानुभूतसंस्कारादत्र भवे तदभिलाष इति पूर्वभवानुभवसिद्धिस्तस्य। एवं पूर्वपूर्वतरभवेष्वपीत्युपपत्त्यापि भवान्तरगामित्वसिद्धिरात्मनः। तथा च—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जुत्तीए अविरुद्धो सयागमो सा वि तयविरुद्ध त्ति।
इय अन्नुन्नाणुगयं उभयं पडिवत्तिहेउ त्ति॥

[ ]

[इति] वचनात् शुभेतरयोर्भवयोरवश्यमस्य गतिः, ततश्च चेतनस्य स्वपरज्ञस्यः, तदात्मनो देवाद्युत्पत्तिस्थानाश्रयणं तत्सम्बद्धान्यनिमित्तं अन्यानेयस्य सतस्तदाश्रयणत्वात्। उपभुक्तातिस्निग्धपरिपूर्णक्षीरादिभोजनचक्रवर्त्तिमहार्ह-शय्याश्रयणवदिति, यत्तदन्यत् सम्बद्धं द्रव्यं तत्पुण्यमित्यतोऽप्यनुमानादस्य सिद्धिः। अस्य च देवाद्यायुःप्राप्तिहेतुत्वेन तत्रापि तत्सुखविशेषावाप्ति-हेतुत्वेन चाऽवान्तरासंख्येयभेदत्वं प्रतिपत्तव्यमिति। आगमस्त्वत्र पूर्वोक्तः प्रसिद्ध एव। आस्रवस्तु आस्रूयते-परिपूर्यते स्रोतोभिरिव पापजलैरात्मसरो यैस्ते आस्रवाः-कषायादयः, अथवा आस्रवति यतः कर्म स आस्रवः कायवाङ्मनोव्यापारः, अयमपि स्वसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धः, सर्वेषामपि कायादि-व्यापारस्य स्वकीयस्वात्मनैवानुभूयमानत्वात्। संवेद्यमानशुभाशुभप्रकृतिबन्ध-निमित्तत्वेन चानुमानगम्योऽपि। तथाहि—आत्मनां कर्मबन्धो बन्धनिमित्तविशेष-प्रयुक्तो बन्धत्वात्, स्नेहाभ्यक्तरजोबन्धवत्। यदत्र स्नेहस्थानीयं दुष्टमनोव्यापारादिरूपं कषाया-ऽविरत्यादिकं तदेवास्रव इति। आगमश्चात्रापि पूर्वोपदर्शित एव द्रष्टव्यः। ततश्च पुण्यं चास्रवश्चेति पुण्यास्रवौ **भिन्नौ** पृथग्भूतौ प्रत्येकमित्यर्थः। **षड्भिर्गुणिताः** षड्गुणास्ते च ते **सप्त** च षड्गुण-सप्त, द्विचत्वारिंशदिति यावत्ततश्च षड्गुणसप्तभिः प्रकारैः **षड्गुणसप्तधे**ति। पुण्यं द्विचत्वारिंशद्भेदमास्रवश्चेत्यर्थः। अत्र च आयुर्घृतमितिवत् कार्ये कारणोपचारात् स्फुटतरोपलभ्यमानतत्कार्यरूपाः **प्रकृतयः** पुण्यशब्देनोच्यन्ते। एवं पापेऽपि भावनीयम्। ताश्च भवोपग्राहि-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्मचतुष्टय एव, न तु घातिकर्मसु। तदुत्तरप्रकृतीनां पापरूपत्वात्। तथाहि—वेदनीयकर्मणि तावत् सातम्, आयुषि सुरनरतिर्यगायूंषि, गोत्रे चोच्चैर्गोत्रम्, नामकर्मणि तु सप्तत्रिंशदिति। तथा चोक्तम्—

नरतिरिसुराउमुच्चं सायं परघाय आयवुज्जोयं।
तित्थोसासनिमेणं पणिंदिवइरुसभ चउरंसं॥

तस दस चउवन्नाई सुरमणुदुगपंचतणुउवंगतिगं।
अगुरु लहु पढमखगई बायालीसं ति सुहपयडी॥

[ ]

अत्र चेदं त्रसदशकम्—

तस-बायरपज्जत्तं पत्तेयं थिरं सुभं च सुभगं च।
सूसर आइज्ज जसं तसदसगं होइ वित्रेयं॥

[ ]

इह च आत्मनश्चिरजीवित्वादिरूपपरिणाम एवायुस्तदुदयवेद्या कर्मप्रकृतिरप्यायुरेवं त्रसबादरादिष्वपि भावनीयम्। तथा च पिण्डप्रकृतीर्व्याचक्षाणेन उक्तं **कर्मस्तवटीकाकृता**—*गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति तथाविधकर्मोदयसचिवा जीवास्तामिति गतिर्नारकादिपर्यायपरिणतिस्तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि गतिः सैव नाम गतिनाम* [प्राचीन-द्वितीयकर्मग्रन्थवृत्तौ] इति। एवं जात्यादिनामस्वपीति। वर्णादयोऽपि शुभरूपाः श्वेतादय एवात्र ग्राह्याः। इतरेषां पापप्रकृतिषु ग्रहणात्। आस्रवस्तु यद्यपि तीर्थकरत्वादिनारकत्वादिरूपपुण्य-पापसाधकतमत्वेन शुभाशुभरूपतया द्विविधः। यदुक्तम्-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुहदुहरूवो नियमेण अत्थि तह आसवो भवत्थाणं।
सदणुट्ठाणा पढमो पाणवहाईहि बीओ उ। [ ] त्ति.

तथाप्यत्राशुभरूप एव ग्राह्यस्तस्यैव द्विचत्वारिंशद्भेदत्वात्। इतरस्य त्वेतन्निरोधरूपस्य पापात् पुण्यस्येव संवरसंज्ञत्वेन तत्त्वान्तरतया प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। अयं च कायादिव्यापाररूपोऽपि व्रीहीन् वर्षति पर्जन्य इतिवत् कारणे कार्योपचाराद् द्विचत्वारिंशद्भेदः, तथाहि—पञ्चेन्द्रियाण्यव्रतानि च कषायाश्चत्वारः क्रियाः पञ्चविंशतिर्मनःप्रभृतयश्चाशुभास्त्रयो योगा इति द्विचत्वारिंशत्। तदुक्तम्—

इंदिय-कसाय-अव्वय-किरिया पण-चउर-पंच-पणुवीसा।
जोगा तिन्नेव भवे बायालं आसवो होई॥

[ ]

अत्र चेन्द्रियादयः प्रसिद्धा एव। क्रिया त्वेवं दृश्या—

काइयकिरिया अहिगरणिया य पाओसियाऽपरिकिरिया।
पारित्तावणिया वि य पाणाईवायकिरिया य ॥
आरंभिया परिग्गहिया तह मायवत्तिया किरिया।
मिच्छादंसणवत्तिय अपच्चक्खाणकिरिया य॥
अन्ना वि दिट्ठीया पुट्ठिया य पाडुच्चिया य किरिय त्ति।
सामंतोवणिवाइय नेसत्थिय तह य साहत्थी॥
आणवणि वियारणिया अणभोगा अणवकंखपच्चईया।
अन्ना पओगकिरिया अवरा समुदायकिरियाओ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तह पिज्जवत्तिया दोसवत्तिया ईरियावहीकिरिया।
एयाओ पंचवीसइ किरिया अत्थो य सिं एसो॥

[ ]

एतासां चार्थः संक्षेपेणैवमवसेयः, तथाहि–आरम्भादनिवृत्तस्याविरत-श्रद्धादेरनुपयुक्तसाध्वादेर्वा कायः शरीरं तद्भवा कायिकी क्रिया द्विविधा १, एवमधिकरणं खड्गादिकं तद्भवा आधिकरणिकी साऽपि तेषामादित एव निर्वर्त्तनेन मुष्ट्यादेर्वा योजनेनेति द्वेधा २, जीवादौ प्रद्वेषकरणात् प्रद्वेषिकी ३, स्वयमन्येन वा परस्य शरीरादिपरितापजननात् पारितापिनी ४, एवमेव परस्य व्यापादनात् प्राणातिपातिनी ५, सामान्येनैव जीवादि-विषयारम्भप्रवृत्तिरारम्भिकी क्रिया ६, परिग्रहप्रभवा पारिग्राहिकी ७, मायाप्रभवा मायाप्रत्ययिकी ८, मिथ्यादर्शनप्रभवा कुमतश्रद्धानादिका मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी ९, असंयतस्य जीवादिविषयाऽविरतिप्रभवा प्रत्या-ख्यानिकी १०, अश्वादीनां मिथ्यादृष्टिस्यन्दनादीनां वा दर्शनार्थं गमनादिका दृष्टिक्रिया ११, तेषामेव कुतश्चित् प्रच्छने प्रश्नक्रिया, पुट्ठिय त्ति प्राकृत-निर्देशाज्जीवादेर्यद्रागेण स्पर्शनं सा वा स्पृष्टिक्रिया १२, रागेण जीवादीन् प्रतीत्य[या चे]ष्टा सा प्रतीत्यक्रिया १३, निजेष्वेव रमणीयजीवादिवस्तुषु समन्तात् प्रेक्षकजनैः स्तूयमानेषु या तुष्टिः सा सामन्तोपनिपातिनी १४, जीवादीनां तथाविधयन्त्रैः निःसृजनं निक्षेपणं यत् सा नैशस्त्रिकी १५, स्वहस्तेनैव यत् परस्य ताडनं सा स्वहस्तिकी १६, जीवादेः परेणानयनं यत्सा आनायनी १७, जीवादीनां क्रकचादिना विदारणं विदारणिका क्रिया १८, उपधेरादाननिक्षेपादिकमनाभोगात् कुर्वतोऽनाभोगप्रत्ययिकी १९, इहपरलोकापायानवकांक्षाविरुद्धासेवनरूपत्वेऽनवकांक्षाप्रत्ययिकी २०,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्येनैवाशुभमनोवाक्कायप्रयोगजा प्रायोगिकी २१, अष्टविधकर्मपुद्गलानां समुपादानरूपा सर्वाऽपि समुदानक्रिया २२, मायालोभाभ्यां या चेष्टा रागजनकव्याहृतिरूपा वा सा प्रेमप्रत्ययिका क्रिया द्विविधा २३, आत्मनः परस्य वा क्रोधाहङ्कारयोरुत्पादिका तु द्वेषप्रत्ययिका २४, छद्मस्थजिनानां केवलिनां वा केवलयोगप्रत्ययबन्धरूपा ऐर्यापथिकी क्रिया २५। आसां च कथञ्चित् परस्परान्तर्भावेऽपि तत्तद्विशेषणवशाद्भेदोऽवसेयः। तथा चोक्तम्—

एसिं अंतरभावो परुप्परं जइवि होइ उ कहिंचि।
तहवि विसेसणभेया भेओ सिं भावियव्वो त्ति॥

[ ]

एवमन्येषामप्यास्रवसंवरबन्धादिभेदानां कथञ्चिदन्तर्भावेऽपि क्रियावत्तत्तद्विशेषणभेदाद्भेदो बोद्धव्यः। विशेषव्याख्यानं तु क्रियाणां **नवतत्त्वप्रकरण-विवरणा**दवधारणीयम्॥

तथा **प्रकृतयः** स्वभावाः संसारिणां सत्त्वानां परिणामविशेषभूताः **पापे** इति पापविषये **द्वाभ्यां** अधिका**शीतिर्द्व्यशीतिरिति** मध्यपदलोपी समासः, एतत्संख्याः पापप्रकृतय इति षष्टीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात् पापस्येत्यर्थः। **स्मृताः** कथितास्तीर्थकृद्भिरिति शेषः।

पापस्याप्यनुमानागमाभ्यां सिद्धिः, तत्रानुमानं देवदत्तसम्बद्धद्रव्यविशेषानुभावात्ततो धन-कनकादयो विघटन्ते, तन्नियतविघटनवत्त्वात् हरितालाद्यनुलिप्तमूषकात् मूषकान्तरवत्। अथवा दुःखमात्मनामान्तरकारणविशेषप्रभवम्, बाह्यकारणाभावेऽपि कदाचिदुपजायमानत्वात्,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथाविधसुखवत्। न चात्र परिदृश्यमानचन्दनादिप्रभवत्वमेवेति साधन-विकलता दृष्टान्तस्येति वाच्यम्। समाधिविशेषप्रभवस्याऽऽनन्दस्य योगिनां भवद्भिरप्यभ्युपगमात्। ततो यदस्य कारणं तत्पापं कर्मेति कारणान्तराहेतु-कत्वमनाकस्मिकत्वं च पुण्यवदिहापि द्रष्टव्यम्। एतद्दृष्टान्तेन चात्रापि शेषाशुभप्रकृतीनां पापप्रभवत्वम् अनुमातव्यम्। तथाहि–नीचैर्गोत्रादयोऽपि पापप्रभवा अशुभप्रकृतित्वात्, दुःखवदिति। किञ्च, आत्मनो भवान्तर-गामित्वे पूर्वोक्तयुक्त्या सिद्धे इदमप्यनुमानमत्र प्रवर्त्तते, चेतनस्य स्वपरज्ञस्य तदात्मनो हीनमातृगर्भस्थानप्रवेशस्तत्सम्बद्धान्यनिमित्तोऽनन्यनेयस्य सतस्तत्प्रवेशत्वात्, मत्तस्याशुचिस्थानप्रवेशवदिति। यत्तदन्यत् सम्बद्धं द्रव्यं तत्पापमिति। पुण्यवदस्यापि तत्तन्नारकादिगतिप्राप्तिहेतुत्वेन तत्तद्दुःखतारतम्यप्राप्तिहेतुत्वेन चाऽवान्तरासंख्येयभेदत्वं बोद्धव्यम्। आगमस्त्वत्रापि पूर्वोक्तः प्रसिद्ध एव। ताश्च प्रकृतय इमाः। तत्र भवोपग्राहिषु तावत् सप्तत्रिंशत्। तत्राप्येकमायुर्नाम्नश्चतुस्त्रिंशद्गोत्रं चैकं वेदनीयमप्येकं शेषास्तु पञ्चचत्वारिंशत् घातिकर्मसु। तथाहि—

थावरदस चउजाई अपढमसंठाणखगइसंघयणा।
तिरि-नरय-दुगुवघायं वन्नचऊ नाम चउतीसा॥

[ ]

अत्रापि स्थावरदशकमिदम्—

थावरसुहुमअपज्जं साहारण अथिर-असुभ-दुभगाणि।
दूसरणाइज्जाऽजसं॥ [ ] इति

वर्णादिचतुष्कमपि कृष्णादि चेहाशुभं ग्राह्यम्। तथा—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नरयाउ नीय अस्साय घाइपणयालसहिय बासीई।
असुहपयडीओ दोसु वि वन्नाइचउक्कगहणेणं॥

[ ]

इहापि सम्यक्त्वादीनां देशसर्वघातिहेतुत्वेन घातिन्यो द्विधा। तत्र देशघातिन्यः पञ्चविंशतिस्तदुक्तम्—

संजलण नोकसाया चउनाण तिदंसणावरण विग्घा।
पणुवीस देसघाई सेस अघाई सरूवेण ॥ त्ति

[ ]

सर्वघातिन्यस्तु विंशतिस्तदुक्तम्—

केवलिय-नाणदंसण-आवरणं बारसाइमकसाया।
मिच्छत्त-निद्दपणगं इय वीसं सव्वघाईओ॥

[ ]

तदेवं सर्वमीलनेन द्व्यशीतिः पापप्रकृतयः। अत्रापि स्थावरत्वं वृक्षादीनामेकत्रस्थितत्वरूपं तथापि तदुदयवेद्या कर्मप्रकृतिरपि स्थावरत्वम्। एवं सूक्ष्मादिष्वप्यूहनीयं। शेषमपि पुण्यवदत्रापि सर्वं वाच्यमिति॥

तथा **भेदान्** प्रकारान् **संवरबन्धयो**स्तत्त्वविशेषयोः **पृथगि**ति प्रत्येकं **आहुः** ब्रुवते सर्वविद इति शेषः। सप्तभिरधिका पञ्चाशत् सप्तपञ्चाशत् तां **सप्तपञ्चाशत**मित्यत्रापि पूर्ववत् समासः। इह च **स्मृता** इति क्रियाभिसम्बन्धेनैवेष्टसिद्धौ यद् **आहुः** इति भिन्नक्रियाभिसम्बन्धित्वेन बन्धसंवरयोरभिधानम् तद् बन्धसंवरयोः सकलहेयोपादेयशेखरसंसार-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निःश्रेयसे प्रत्यव्यवहितहेतुत्वप्रतिपादनार्थं। तथाहि-कर्मणां बन्ध एव तावन्निरुपहतबीजवद्भवतरोरव्यवधानं निदानम्। तदभावे तदभावात्। संवर एव च साक्षात् मोक्षोपक्षेपको दहन इव दाहस्य, शैलेश्यवस्थायां सर्वसंवरानन्तरमेव कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणमोक्षोत्पत्तेः। आस्रवनिर्जरयोस्तु भवापवर्गहेतुत्वेऽपि काष्ठस्येव दाहं प्रति न साक्षात्तद्धेतुत्वम्, किंतु बन्धसंवरोत्पादनद्वारेणैवेति युक्तमनयोर्भिन्नक्रियाभिसम्बन्धसम्पादनमिति। तत्राप्रशस्तकायव्यापारादिरूपस्यास्रवस्य समित्यादिभिः संवरणं निरोधनं संवरः। स च स्वात्मनि तावत् स्वसंवेदनाध्यक्षसिद्धः। समित्यादीनां शुभवागादिप्रवृत्तिरूपाणां स्वयमेव साक्षादनुभूयमानत्वात्, पुरुषान्तरे तु तत्कार्यदृष्टिवाग्विकारादेरुपलम्भादनुमानगम्यः। आगमस्त्वत्रापि पूर्वोक्तः सुप्रसिद्ध एव। तदयमपि प्रमाणत्रयोपपन्नत्वाच्छ्रद्धानोचित इति। अयं च समितिपञ्चक-गुप्तित्रय-दशविधयतिधर्म-द्वादशविधानुप्रेक्षा-द्वाविंशतिभेदपरीषहतितिक्षा-पञ्चप्रकारचारित्ररूपतया सप्तपञ्चाशद्भेदः। तदुक्तम्—

समिई गुत्ती धम्मो अणुपेह परीसहा चरित्तं च।
सत्तावन्नं भेया पणतियभेयाइ संवरणे॥

[ ]

अत्रापि यथाक्रमम्—

इरियाभासा-एसण-आयाणाई तहा परिट्ठवणे।
सम्मं जाओ पवित्ती सा समिई पंचहा एवं॥
मणगुत्तिमाईयाओ गुत्तीओ तिन्नि हुंति णायव्वा।
अकुसलनिवित्तिरूवा कुसलपवित्तिस्सरूवा य॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खंती य मद्दवज्जव-मुत्ती-तव संजमे य बोधव्वे।
सच्चं सोयं बंभं आकिंचणमिह दसह धम्मो॥
पढममणिच्च-मसरणय-संसारो एगया य अन्नत्तं।
असुइत्तं आसव संवरो य तह निज्जरा नवमा॥
लोगसहावो बोही य दुल्लहा धम्मसाहओ अरहा।
एयाओ हुंति बारस अणुपेहाओ जिणुद्दिट्ठा॥
खुहा पिवासा सी उण्हं दंस अचेल रइत्थीओ।
चरिया निसीहिया सिज्जा अक्कोस वह जायणा॥
अलाभ रोग तणफासा मल सक्कार परीसहा।
अन्नाणं संमत्तं इय बावीसं परीसहा॥
सामाइयं छेओवट्ठावणं परिहारसुद्धियं चेव।
तह सुहुमसंपरायं अहखायं पंचमं चरणं॥

[ ]

एवं समित्यादिसर्वमीलने सप्तपञ्चाशद्भेदः संवरः, अयं च व्यवहारसंवरः। निश्चयसंवरस्तु सूक्ष्मबादरसकलकायादिचेष्टानिरोधलक्षणः शैलेश्यवस्था-प्रभवस्तस्यैव सर्वथाऽऽस्रवनिवृत्तिरूपत्वात्। तदुक्तं—

पावट्ठाणेहिंतो विरई ववहारसंवरो होइ।
निच्छयनएण सेलेसिगाए जदणंतरो मुक्खो॥ त्ति

[ ]

तथा कषायस्नेहानुबद्धस्य मनोवाक्कायव्यापारवतः कार्मणशरीरसचिव-स्यात्मनः प्रदेशैः कर्मयोग्यपुद्गलप्रदेशानां क्षीरावयवैरिव नीरावयवानां यः परस्परानुप्रवेशरूपः सम्बन्धः [स बन्धः]। तदुक्तम्—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवकर्मप्रदेशानां यः सम्बन्धः परस्परम्।
कृशानुलोहवद्धेतोर्बन्धं तं जगदुर्बुधाः॥

[ ]

अयं च जीवकर्मणां प्रत्यक्षानुपलभ्यत्वेनाप्रत्यक्षोऽप्यनुमानागमाभ्यामधिगम्यते। तत्रानुमानमेवम्—अशेषज्ञेयज्ञानस्वभावस्यात्मनः स्वविषये ज्ञानाप्रवृत्तिर्विशिष्टद्रव्यसम्बन्धनिमित्ता, स्वविषयज्ञानाप्रवृत्तित्वात्, पीतहृत्पूरपुरुषस्वविषयज्ञानाप्रवृत्तिवत्। यच्च ज्ञानस्य स्वविषयप्रतिबन्धनं तत् ज्ञानावरणादिकं वस्तुसत् पुद्गलरूपं कर्मेति। न चायमसिद्धो हेतुः। सकलज्ञेयविषयेऽस्मदादिज्ञानानामप्रवृत्तेः, नापि कदाचिद्गन्धरसादिविषयज्ञानाप्रवृत्त्या व्यभिचारः, तत्रापि श्लेष्मपित्तादिद्रव्यस्यैव तत्प्रतिबन्धकत्वात्। तस्मात् साध्यान्यथानुपपन्नादागमोपगृहीताच्चैतस्मादनुमानाद् द्रव्यरूपसकलकर्मसिद्धिः। आगमश्च प्रदर्शित एवेति। अयं च स्पृष्टनिधत्तादितारतम्येनानेकविधोऽपि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशैश्चतुर्द्धा। पुनर्ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतिभिरष्टधा। मत्यावरणादिभिरुत्तरप्रकृतिभिरनेकधेति। यद्यपि चायं जीवकर्मप्रदेशसम्बन्धरूपक्रियालक्षण एव तथापि कारणे कार्योपचारात् तत्कारणं मिथ्यात्वाद्यपि बन्ध एवेति तस्य सप्तपञ्चाशत्प्रकारत्वाभिधानं युक्तमेव। ते चामी–पञ्चविधं मिथ्यात्वम्, द्वादशविधा अविरतिः, षोडश कषायाः, नवभिर्नोकषायैः सह पञ्चविंशतिः, योगास्तु मनोवाक्कायानां क्रमेण चत्वारश्चत्वारः सप्त चेति पञ्चदशेति। तदुक्तम्—

बंधस्स मिच्छ अविरइ कसाय जोग त्ति हेयवो चउरो।
पंच दुवालस पणवीस पन्नरस कमेण भेया सिं॥ ७४॥

[प्राचीन-चतुर्थ-कर्मग्रन्थे]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्र—

आभिग्गहियं अणभिग्गहं च तह अभिनिवेसियं चेव।
संसईयमणाभोगं मिच्छत्तं पंचहा एवं॥ ७५॥
बारसविहा अविरई मण-इंदिय-अनियमो छकायवहो।
सोलस नव य कसाया पणुवीसं पन्नरस जोगा॥ ७६॥

[प्राचीन-चतुर्थ-कर्मग्रन्थे]

तत्रापि योगा एवम्—

सच्चं मोसं मीसं असच्चमोसं मणं चउद्धाओ।
एवं वई वि चउहा ओरालाईय काओगो॥
ओरालिया तम्मीसा विउव्वि तम्मीसया य आहारे।
तम्मीसो कम्मइगो काओगो सत्तहा एवं॥

[ ]

सर्वमीलनेन च सप्तपञ्चाशदिति॥

तथा **मोक्ष** इति विनिर्मुक्तशेषबन्धनस्य प्राप्तनिजस्वरूपस्य लोकान्ते-ऽवस्थानं मोक्षः। *'बन्धविप्रयोगो मोक्षः'*[ ] इति वचनात्। अस्याप्यनुमानागमाभ्यां प्रतिपत्तिः, तत्रानुमानं सम्यग्ज्ञानवैराग्याद्युत्कर्षः सकलाज्ञानरागाद्यात्यन्तिकक्षयहेतुस्तदुत्कर्षतारतम्यस्य तदपकर्षतारतम्यहेतुत्वात्, यदुत्कर्षतारतम्यं यदपकर्षतारतम्यहेतुस्तत्कदाचित्तदात्यन्तिकक्षयहेतुर्यथोष्णस्पर्शः शीतस्पर्शस्य। भवति च सम्यग्ज्ञानाद्युत्कर्षतारतम्यमज्ञानाद्यपकर्षतारतम्यहेतुस्तस्मात्तदपि कदाचित्तदत्यन्तक्षयहेतुः, स चात्यन्तिकतत्क्षयो मोक्ष इति। आगमश्च प्रतिपादित एव। मोक्षानन्यत्वाच्च

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कथञ्चित् मुक्तानां तत्प्ररूपणप्रक्रमे मुक्ता अपि प्ररूप्यन्ते। ते च स्वलिङ्गान्यलिङ्गगृहिलिङ्गसिद्धाः स्त्रीपुंनपुंसकसिद्धाः तीर्थकरातीर्थकर-सिद्धास्तीर्थातीर्थसिद्धाः एकानेकसिद्धाः प्रत्येकबुद्ध-बुद्धबोधित-स्वयम्बुद्धसिद्धाश्चेति च पञ्चदशधा। तदुक्तम्—

सऽन्नगिहिलिंग थी नर नपुंस तित्थयर इयर तित्थियरा।
एगाणेगा पत्तेयबुद्ध-सयंबुद्धसिद्धा य॥ इति

[ ]

अयं सकलानुष्ठानफलभूतत्वात् सर्वपदार्थानां मूर्द्धाभिषिक्तः। एतदर्थत्वात् सुविशुद्धज्ञानदर्शनचारित्राणामिति।

देशविनिर्जरेति च इति। कर्मणां विपाकात्तपसो वा निर्जरणं निर्जरा क्षयो विविधा उत्कर्षादितारतम्यवती। विशिष्टा चात्यन्तिकी निर्जरा विनिर्जरा, देशेन एकद्व्यादिकर्मैकदेशक्षयरूपेण तदंशमिथ्यात्वकषाया-दिक्षयरूपेण वा विनिर्जरा देशविनिर्जरेति। अस्या अपि सद्भावे अनुमान-मागमश्च प्रमाणे, तत्रानुमानं तावत् केवलज्ञानोत्पत्त्यन्यथानुपपत्तिरेव। तथा सत्स्वपि भवोपग्राहिषु चतुर्षु कर्मसु केवलोत्पत्तिरुपलभ्यते। अतोऽनु-मीयते, नूनमस्ति कर्मणाम् एकदेशक्षयो यस्यैकदेशस्य घातिकर्मचतुष्टय-लक्षणस्य क्षयात् केवलज्ञानोत्पत्तिः स एव निर्जरेति। प्रयोगस्त्वेवं-श्रीवीरः समवसृतौ धर्ममादिशन्, घातिकर्मक्षयवान्, तत्कार्यकेवलज्ञानवत्त्वात्। यो यत्कार्यवान् स तत्कारणवान् भवति। यथा वेपमानाऽधररक्तलोचनः क्रोधवानिति। यथा वा श्रेणिकराजो मिथ्यात्वादिमोहप्रकृतिसप्तकक्षयवान्, क्षायिकसम्यक्त्ववत्त्वात्, कृष्णवदिति साधर्म्यदृष्टान्तो, वैधर्म्यदृष्टान्तस्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दर्दुराङ्कदेवजीवो नन्दमणिकारः। न चात्र हेतोरसिद्धिस्त्रिदशैरपि तीर्थकृत्प्रवचनात् मनागप्यप्रच्यावितमानसत्वेन क्षायिकसम्यक्त्वस्य निश्चितत्वात्तत्रेति। कर्मक्षयतारतम्यं तु ज्ञानदर्शनसुखोपशमदीर्घायुष्कसुरूपसुकुलादितारतम्यलाभवत्सु प्रायः सर्वप्राणिषु सुप्रतीतमेवेति। आगमस्तु *तपसा निर्जरा च* [तत्त्वार्थ० ९।३] इत्यास्रवचनं पूर्वप्रतिपादितश्च। तपश्च निबिडतमबन्धानामपि कर्मणां निर्जरणक्षममिति कारणे कार्योपचारात्तप एव निर्जरेति। तदुक्तम्—

जम्हा निकाइयाण वि कम्माण तवेण होइ निज्जरणं।
तम्हा उवयाराओ तवो इहं निज्जरा भणिया॥

[ ]

तच्च बाह्याभ्यन्तरभेदाद् द्वादशधेति। निर्जराऽपि द्वादशविधा, अथवा कनकावली-सिंहविनिकीडितादिभेदादनेकविधमिति। तपो हि शुभात्मपरिणामविशेषलक्षणतया धर्मध्यानरूपत्वेन श्रेयोहेतुत्वादास्रवप्रत्यनीकत्वाच्चा*स्रवनिरोधः संवरः* [तत्त्वार्थ० ९।१] इति वचनात् संवरोऽपि। तथाहि-बाह्याध्यात्मिकभावानां याथात्म्यं धर्मस्तस्मादनपेतं धर्म्यं ध्यानं गुप्तिसमित्यनुप्रेक्षादिकमपि सर्वं तादृशमिति धर्म्यम्। एवं शुक्लध्यानमपि केवलं तदाद्यभेदात् पृथकत्ववितर्कसविचाराख्यात् प्रकर्षकोटिप्राप्तादुपशमकस्य क्षपकस्य वा मोहनीयमात्रोपशमक्षयरूपा निर्जरा। एकत्ववितर्काविचाराख्यात् तु द्वितीया सद्भेदादतिशयकोटिसमारूढादकषायछद्मस्थवीतरागाणां निःशेषमोहक्षयानन्तरं युगपत् घातिकर्मत्रयक्षयरूपा निर्जरा भवति। यदाह **वाचकमुख्यः**—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्वार्जितं क्षपयतो यथोक्तैः क्षयहेतुभिः।
संसारबीजं कात्स्र्न्येन मोहनीयं प्रहीयते॥
ततोऽन्तराय-ज्ञानघ्न-दर्शनघ्नान्यनन्तरम्।
प्रहीयन्तेऽस्य युगपत् त्रीणि कर्माण्यशेषतः॥

[तत्त्वार्थ० भा० प्रशस्ति० श्लो० २। ३।]

इति। तदियं सर्वापि व्यवहारसंवररूपत्वादेकदेशकर्मक्षयहेतुरेवेति निर्जरा। निश्चयसंवरस्य तु मोक्षहेतुत्वात्तथाहि—घातिकर्मचतुष्कक्षयानन्तरं ध्यानान्तरे वर्त्तमानः क्षायिकज्ञानदर्शनचारित्रवीर्यातिशयसम्पन्नः केवली जायते। ततोप्यन्तर्मुहूर्त्तपरिशेषायुष्कसयोगिकेवली प्रथमं बादरकाययोगेन बादरौ मनोवाग्योगौ निरुणद्धि। ततः सूक्ष्मकाययोगेन बादरकाययोगं सति तस्मिन् सूक्ष्मयोगस्य निरोद्धुमशक्यत्वात्। ततः सर्वबादरयोगनिरोधानन्तरं सूक्ष्म-क्रियमनिवर्त्ति तृतीयं शुक्लध्यानमध्यास्ते। तत्र च भवोपग्राहिषु त्रिषु केवलिसमुद्घातेन आयुषा सह समीकृतस्थितिषु स्वत एव वा तथाविधेषु सत्सु सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्मौ मनोवाग्योगौ निरुणद्धि। ततस्तमेव सूक्ष्मकाययोगं स्वयमेव निरुणद्धि। ततस्तन्निरोधानन्तरं समुच्छिन्न-क्रियमप्रतिपाति शुक्लध्यानं ध्यायन् पञ्च ह्रस्वाक्षरोच्चारणमात्रं कालं शैलेशीप्रविष्टो भवति। तत्र च शैलेश्यवस्थारूपे निश्चयसंवरे सर्वबन्धास्रव-निरोधः, ततोऽयोगिकेवली निःशेषिताशेषकर्मांशोऽवाप्तशुद्धनिजस्वभाव-स्तत्स्वाभाव्यात् प्रदीपवदूर्ध्वं गच्छत्या लोकान्तादेकसमयेनेत्येवं सर्वसंव-रान्मोक्ष एव, देशसंवरात्तु निर्जरेति स्थितम्॥

इति शब्दः परिसमाप्तौ, **चः** समुच्चये स्मृता इति क्रिया सर्वत्र यथायोगं द्रष्टव्या। **नव** इति, नवेति नवसंख्यानि विवक्षावशेन, न त्वधिक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तराण्यपि। **श्रद्धत्त** इति प्रमाणोपपन्नतया प्रतीत्य तथेति शुभात्मपरिणाम-रूपरुचिविषयाणि विधत्त **तत्त्वानि** यथावत् प्रमाणोपदर्शितवस्तुरूपाणि, **भो!** इति श्राद्धश्रोतृणामामन्त्रणम्। हितैषिणा हि श्रोतारः सम्यगामन्त्र्य हित-मुपदेष्टव्या इति शिष्टसमाचारसमापनार्थं सम्बोधनमिति। केवलं श्रद्धानमपि न प्रमाणोपपन्नत्वेन परस्परकार्यकारणपरिणामरूपतया सापेक्षत्वेन वाऽज्ञाते सम्यक् सम्भवन्तीति। तानि पूर्वप्रमाणोपपन्नत्वादिना ज्ञातव्यानि। अत्र चार्थे आगमोऽप्येवम्—

जो जीवे वि न याणइ अजीवे वि न याणई।
जीवाजीवे अयाणंतो कहं सो नाहीय संजमं॥

[दशवै० ४। १२]

इत्यादिस्तथा *'जो जीवे वि वियाणाई'* [दशवै० ४। १३] इत्यादिश्च। तथा *'जया पुण्णं च पावं च बंधं मुक्खं च जाणइ'* [दशवै० ४। १६] इत्यादिश्चान्वय-व्यतिरेकाभ्यां तज्ज्ञानमेव मोक्षानन्तरकारणचारित्रहेतुत्वेनोपदर्शयति। न च माषतुषादीनां तथाविधज्ञानाभावेऽपि स्वकार्यसाधकत्वश्रुतेस्तद-नादरणीयम्। तेषामपि गुरुविषयाद्वैतप्रतिपत्तितत्पारतन्त्र्यरूपनैश्चयि-कज्ञानाभ्युपगमात्। न चान्येषामपि तदेवास्तु किं श्रुताध्ययनश्रवणादि-ज्ञानेनेति वाच्यम्? तथा सति-*'पढमं नाणं तओ दया'* [दशवै० ४। १०] इत्यादि वचनं व्यर्थमापद्येत। किं चैकस्य तथोपलम्भे सर्वत्र तथाभ्युपगमे श्रुतज्ञानवच्चारित्रमप्यनादरणीयं स्यात्। मरुदेविस्वामिनीभरतचक्रिप्रभृतीनां तत्प्रतिपत्तिमन्तरेणापि केवलोत्पत्तिश्रवणात्। तस्मान्न कादाचित्कविशिष्टा-ध्यवसायवशात् स्वकार्यसाधकप्राणिमात्रदृष्टान्तेन सर्वसांव्यवहारिकशास्त्रीय-ज्ञानप्रतिक्षेपः कर्त्तव्यः। ज्ञानचारित्रयोः समुदितयोरेव निःश्रेयस-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधकत्वात्। तदुक्तम्—

नाणं पयासयं सोहओ तवो संजमो य गुत्तिकरो।
तिण्हं पि समाओगे मुक्खो जिणसासणे भणिओ॥

[आवश्यकनि० १०३]

यत्तु सम्यक्त्वस्य ज्ञानादतिशयप्रतिपादनम**आवश्यके तत्त्वार्थसंग्रहादौ** च शास्त्रे तत्र तत्रोपलभ्यते। तज्ज्ञाने सत्यपि श्रद्धानमन्तरेण तस्याकिञ्चित्करत्वान्मोक्षाबीजकल्पत्वाच्च। न तु सम्यग्ज्ञानस्य मोक्षानुपयोगित्वोपदर्शनार्थम्। तस्य हि सम्यक्चारित्रहेतुत्वेन तत्रात्यन्तोपयोगित्वादतो ज्ञानमवश्यमेषामन्वेषणीयमिति। तत्र यथा प्रमाणोपपन्नत्वमेतेषां तथा प्रागेव प्रतिपादितम्। साध्यसाधनादिरूपतया तु परस्परापेक्षित्वमेवम्। तथाहि—सकलानुष्ठानफलरूपमोक्षार्थिभिस्तावन्मोक्षः प्रमाणतोऽधिगन्तव्योऽन्यथा तत्रेच्छाभावात्तदुपाये प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, न ह्यनधिगतसस्यसद्भावस्तदुपाये कृष्यादौ प्रवर्त्तते। तदुपायप्रवृत्तिरपि सुखार्थिनां चन्दनादिप्रवृत्तिवत्तदुपायरूपसंवर-निर्जरापदार्थद्वयप्रतिपत्तिमन्तरेण नोपपद्यते। अज्ञातस्योपायस्यापि प्रेक्षापूर्वकारिप्रवृत्तिविषयत्वाभावात्। ततोऽशेषकर्मक्षयार्थिनां तदुपायैकदेशकर्मक्षयलक्षणसंवरनिर्जरयोः प्रवृत्तिरपि तज्ज्ञानपूर्विकैवेति तेऽपि ज्ञातव्ये। न ह्यन्यथाभिनवकर्मोपादानरूपास्रवनिरोधः सम्भवति। तथा पुण्यापुण्यप्रकृतिप्रायोग्यकर्मवर्गणासम्बन्धरूपो बन्धोऽपि रसायनोपशमनीयमहाव्याधिवदवश्यं तन्निवर्त्तनीयत्वेन ज्ञातव्यः। अज्ञातस्वरूपस्योपायनिवर्त्तनीयत्वायोगात्। संवरादिनिवर्त्तनीयत्ववत्तस्यास्रवोत्पाद्यतापि ज्ञेया। अन्यथा महाव्याधिनिदानाज्ञानवत्तस्यापि तन्निवर्त्तनीयत्वनिश्चयो न स्यात्। आस्रवस्यापि च बन्धहेतोः सनिमित्तत्वेन जीवाजीवरूपहेत्वाक्षेपात्तत्कारणता ज्ञातव्या। अन्यथा-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऽकारणस्य तस्यापि सत्त्वविरोधः स्यात्, न हि जीवाजीवव्यतिरिक्तं तस्यापि कारणमस्ति। ततः पदार्थान्तरस्याभावात्। तयोश्च नैकान्तान्नित्यत्वा-ऽनित्यत्वाभ्यामास्रवादिहेतुता सम्भवति। तादृशयोः सर्वथार्थे क्रियाविरोधात्तस्मात् परिणामित्वे सत्येव तयोरप्यास्रवादिहेतुत्वमिति। पदार्थद्वयाव्यतिरिक्तौ कथंचित्सकारणौ बन्धमोक्षावित्थं प्रतिपत्तव्यौ। अन्यथा तद्विषये सम्यग्ज्ञानाभावेन सम्यक्श्रद्धानानुपपत्तेः सकलस्यापि चारित्रस्य मोक्षहेतुत्वं न स्यादिति सुष्ठूक्तं भगवता प्रकरणकारेण **श्रद्धत्ते**ति, प्रमाणोपपन्नतया ज्ञात्वा तथेति प्रत्ययविषयान् कुरुतेत्यर्थः। तादृशश्रद्धानस्यैव मोक्षकल्पतरुबीजकल्पत्वादिति वृत्तार्थः ॥ १२॥

अथानेकैर्हेतुभिस्तत्त्वमेव व्यवस्थापयंस्तत्संख्याभेदमाह-

सर्वज्ञोक्तमिति प्रमाघटितमित्यक्षोभ्यमन्यैरिति
न्यायस्थानमिति स्फुटक्रममिति स्याद्वादधीभागिति।
युक्त्यायुक्तमिति प्रतीतिपदमित्यक्षुण्णलक्ष्मेति च
सप्त द्वे नव वेत्यवेत बहुधा तत्त्वं विवक्षावशात्॥ १३॥

व्याख्या–अवेत तत्त्वं बहुधेति सम्बन्धः। तत्र पारमार्थिकः पदार्थो जीवादिस्तत्त्वम्। सम्यग्ज्ञायमानं यत् संसारबीजं निकृन्तति तत्तत्त्वमिति वा। कुतस्कुतः? इत्यत्र हेतुनवकमाह–**सर्वज्ञेना**तेन यथावस्थितवस्तुविदा **उक्तं** प्रतिपादितमिति हेतोः। न हि सर्वज्ञः कदाचिदपारमार्थिकं वन्ध्यासुतादिकं तत्त्वतया प्ररूपयति। तस्मादवश्यं जीवादिः पारमार्थिक एव भावः। **इति** शब्दाः सर्वेऽपि हेत्वर्था द्रष्टव्याः। तथा **प्रमा** सम्यग्ज्ञानं तया **घटितं** संघटनानीतम्। न हि सम्यग्ज्ञानघटितं कदाचिदपारमार्थिकम्, प्रत्यक्षोपलब्धघटवत्। अत एव च **अक्षोभ्यम्** अनिराकार्यम्। कैः?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्यैरपरैः प्रतिवादिभिः प्रमाणाभासैः। न हि प्रमाघटितं प्रमाणाभासैः क्षोभ्यत इति। तथा **न्यायः** पञ्चावयवं वाक्यं तस्य **स्थानम्** आधारः। सम्यग्ज्ञानप्रतीतोऽप्यर्थो न्यायेन विषयीक्रियमाणो दृढतरप्रतीतिविषयो भवति। यथा पर्वतनितम्बे वह्निरिति। तथा **स्फुटः** व्यक्तः **क्रमः** प्रवर्त्तमान-प्रमाणपरिपाटिर्यत्र तत्तथा। अतत्त्वे हि प्रकृतीश्वरादौ न काचिज्जीवादिवत्प्रमाणक्रमप्रवृत्तिः। यथा च जीवादौ प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणक्रमप्रवृत्तिस्तथोपदर्शितं प्राक्। तथा **स्याच्छब्दः** कथञ्चिदर्थे, तेन स्यान्नित्यो जीवः कथञ्चिदनित्योऽपीत्यादिको वादः **स्याद्वादो**ऽनेकान्तवादस्तस्य **धीर्बुद्धिस्तां भजत** आश्रयतेति तत्त्वम्। यत्तु तत्त्वं न भवति तन्न स्याद्वादधियं भजते। यथा नित्य एव आत्मेति। तथा **युक्त्या** यदि जीवो न स्यात् संसारापवर्गौ न स्यातामित्यादि तर्करूपयोपपत्त्या **युक्त**मुपपन्नमिति। अतत्त्वे तु यदि गगनकमलं न स्यान्न सुरभि स्यात्, सुरभि चेदमित्येवं रूपस्तर्काभास एव विपर्ययापर्यवसितत्वात्। तथा **प्रतीतेः** साक्षात्काररूप-प्रत्ययस्य **पदं** स्थानम्। भवति ह्यात्मनि अहमित्येवं रूपो मानसः साक्षात्कारः, प्रमाघटितत्वं ह्यानुमानिकागमिकसम्यग्ज्ञानविषयत्वेऽप्युपपद्यते। प्रतीतिपदत्वं तु साक्षात्कारे एवेत्यपौनरुक्त्यम्। तथा **अक्षुण्णं** परैरनिराकृतं **लक्ष्म** *उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् [तत्त्वार्थ० ५। २९] इति* वस्तुलक्षणं यस्य तत्तथा, अव्यभिचारि चेदं लक्षणं सर्वत्रेत्यनिराकार्यम्। **चः** समुच्चये, क्वचिदक्षुण्ण- लक्ष्मेति चकाराभावे **'सत् सम द्वे'** इति पाठस्तत्र **सदि**ति विद्यमानं तत्त्वं न त्वसद् गगनारविन्दादीत्यर्थः। एवं च सत्युपदिश्यते, किमित्याह–**अवेत** जानीत भो भव्याः! यूयम्। किमित्याह–**तत्त्वं** पारमार्थिकपदार्थरूपम्। कथमित्याह–**बहुधा** अनेकधा। कस्मादित्याह–**विवक्षावशात्** क्वचित् कस्याप्यन्तर्भावानन्तर्भावविचक्षणेन। अनैकध्यमेवाह–

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सप्तेति सप्तसंख्यानि तत्त्वानि। पुण्यपापयोर्बन्ध एवान्तर्भावात्। तथा च **तत्त्वार्थसूत्रम्** *'जीवाजीवास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षास्तत्त्वम्'* [तत्त्वार्थ० १। ४] इति। अन्यत्राप्युक्तम्—

समयम्मि सत्त तत्ताणि तित्थनाहेण वन्नियाणि जओ।
पुन्नं पावं च दुवे बंधपयंमी पसज्जंति॥

[ ]

तथा **द्वे** इति द्विसंख्यं तत्त्वम्, जीवाजीवरूपतया। आस्रवादीनां जीवाजीवपरिणामविशेषतया तयोरेवान्तर्भावविवक्षया। **नव** च नवसंख्यानि तत्त्वानि प्रसिद्धान्येव। एवं च तत्त्वमित्येकवचनान्तनिर्देशेऽपि तत्तत्संख्यादि-सम्बन्धेऽत्र द्विवचन-बहुवचनाभ्यामपि योजने विरोधाभावात्। जीवतत्त्वा-भिप्रायेण तावत् सर्वज्ञोक्तत्वादयो हेतवः सर्वे योजिताः। अजीवादिविषये यथासम्भवं स्वबुद्ध्योत्प्रेक्ष्य योजनीया इति वृत्तार्थः ॥ १३॥

अथ प्रतीतिः शुभगुरुष्विति षष्ठद्वारं गुणवद्गुरूपदर्शनद्वारेण तद्वचनाश्रयणमुपदिशन्नेव स्पष्टयन्नाह—

सम्यग्ज्ञानगरीयसां सुवचसां चारित्रवृन्दीयसां
तर्कन्यायपटीयसां शुचिगुणप्राग्भारबंहीयसाम्।
विद्यामन्त्रमहीयसां सुमनसां भव्यव्रजप्रेयसां
धत्तोच्चैस्तपसां विकाशियशसां सम्यग्गुरूणां गिरः ॥ १४॥

व्याख्या—भो भव्याः! गुरूणां गिरो मनसि धत्तेति संबन्धः। कीदृशाना-मित्याह—**सम्यग्ज्ञाने**नावितथबोधेन **गरीय**सां अतिशयेन गुरवो गरीयांसस्तेषाम्। अनेन ज्ञानसंपदुक्ता। तथा **सुष्ठु** शोभनं माधुर्यादिगुणो-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पेतमलीकत्वादिद्वात्रिंशद्दोषविकलं **वचः** वचनं येषां ते तथा तेषाम्। एवं षष्ठ्यन्तता वक्ष्यमाणेषु सर्वपदेषु स्वयमेव योज्या। अनेन वचनसंपदुक्ता। तथा **चारित्रि**षु सम्यक्सम्पूर्णसंयमवत्सु **वृन्दीयसां** वृन्दारकाणां श्रेष्ठतराणामिति यावत्। अनेन सम्पूर्णक्रियावत्त्वमेषां प्रकाशितम्। क्वचि**च्चारित्रे**ति पाठस्तत्र दण्डयोगाद्दण्ड इतिवच्चारित्रयोगाच्चारित्राः साधव इति व्याख्येयम्। चारित्रादिगुणोपेता अपि नाऽन्वीक्षिकीविद्याविकलाः स्वपक्षव्यवस्थापन-परपक्षक्षेपणपटवः स्युरत आह—*अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्व-ज्ञानार्थमूह***स्तर्कः** [न्यायसू०], **न्यायः** प्रतिज्ञादिपञ्चावयवं वाक्यम्, ततश्च तर्कप्रधानो न्यायस्तर्कन्यायस्तत्र **पटीयांसः** सम्यगवबोधे प्रयोगे च निपुणाः, तेन हि प्रायोऽतीन्द्रियोऽप्यर्थोऽनायासेनैव व्यवस्थाप्यते। तथा **शुचयः** निर्मला **गुणा** आचारसम्पदादयस्तेषां **प्राग्भारः** बाहुल्यं तेन **बंहीयांसो** बहुलाः, ते चाऽऽचारादिगुणा एवम्—

आयाराई अट्ठ उ तह चेव य दसविहो [हो]इ ट्ठिइकप्पो।
बारस तव छावस्सय सूरिगुणा हुंति छत्तीसं॥

[ ]

आचारादयश्च संपदोऽष्टौ—

आयारसुयसरीरे वयणे वायणमई पओगमई।
एएसु संपया खलु अट्ठमिया संगहपरिन्ना॥
एसा अट्ठविहा खलु एक्केक्कीए चउव्विहो भेओ।
इणमो उ समासेणं वुच्छामि अहाणुपुव्वीए॥
अट्ठविहा गणिसंपय चउग्गुणा नवर हुंति बत्तीसं।
विणओ य चउब्भेओ छत्तीस गुणा इमे तस्स॥

[ ]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्यादयः, व्याख्या–गणः समुदायो भूयानतिशयवान् वा गुणानां साधूनां वा यस्यास्ति स गणी आचार्यस्तस्य संपत्–समृद्धिर्भावरूपा गणिसंपत् साऽष्टधा। तत्राचरणमाचारः अनुष्ठानं स एव संपद्विभूतिस्तस्य वा संपत् संपत्तिः प्राप्तिराचारसंपत्, सा चतुर्द्धा। तद्यथा–संयमध्रुवयोगयुक्तता चरणे नित्यं समाध्युपयुक्ततेत्यर्थः॥ १॥ असंप्रग्रह आत्मनो जात्याद्युत्सेकरूपग्रह-वर्जनमिति भावः॥ २॥ अनियतवृत्तिरनियतविहार इति योऽर्थः॥ ३॥ वृद्धशीलता वपुर्मनसोर्निर्विकारतेति॥ ४॥ यावत्। [१] एवं श्रुत बहुश्रुतता युगप्रधानागमतेत्यर्थः १, परिचितसूत्रता २, विचित्रसूत्रता स्वसमयपर-समयभेदात् ३, घोषविशुद्धिकारिता उदात्तादिविज्ञानात् ४, [२]. शरीर ४–आरोहपरिणाहयुक्तता उचितदैर्घ्यविस्तरतेत्यर्थः १, अनवत्रपता अलज्जनीताङ्गता इत्यर्थः २, परिपूर्णेन्द्रियता ३, स्थिरसंहननता चेति ४, [३]. वचनसंपत् आदेयवचनता १, मधुरवचनता २, अनिश्रितवचनता मध्यस्थवचनतेत्यर्थः ३, असंदिग्धवचनता चेति ४। [४]. वाचना विदित्वोद्देशनम् १, विदित्वा समुद्देशनम्, पारिणामिकं शिष्यं ज्ञात्वेत्यर्थः २, परिनिर्वापवाचना पूर्वादत्तालापमधिगम्य या शिष्यस्य पुनः सूत्रदानमित्यर्थः ३, अर्थनिर्यापणा अर्थस्य पूर्वापरसांगत्येन गमनिकेत्यर्थः ४, [५]. मति ४ अवग्रहेहापायधारणाभेदात् ४। [६]. प्रयोगः, इह प्रयोगो वादविषय-स्तत्रात्मपरिज्ञानं वादविषये १, पुरुषपरिज्ञानम्, किंनयोऽयं वाद्यादिः २, क्षेत्रपरिज्ञानम् ३, वस्तुपरिज्ञानम्, वस्त्विह वादकाले राजामात्यादि ४। [७]. संग्रहपरिज्ञानं संग्रहः स्वीकरणम् १, तत्र परिज्ञा ज्ञानं नामाष्टमी संपत्, सापि चतुर्द्धा, तद्यथा—बालादियोग्यक्षेत्रविषया १, पीठफलकादिविषया २, यथासमयस्वाध्याय–भिक्षादिविषया ३, यथोचितविनया चेति ४। [८].

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा आचारविनयः १, श्रुतविनयः २, विक्षेपणाविनयः ३, दोषनिर्घातविनयः ४। [९]३६।

तथा **विद्या** ससाधना स्त्रीदेवता वा। **मन्त्रो** पठितसिद्धः पुरुषदेवतो वा, ताभ्यां **महीयांसो** महत्तराः। तद्युक्ता हि प्रवचनप्रभावका भवन्ति। वैरस्वामि-खपुटाचार्यादिवत्। तथा **सुष्ठु** शोभनं सर्वोपकारकरणविषयत्वेन **मनश्चित्तं** येषां ते तथा। अत एव **भव्यव्रजस्य** मुक्तिगमनयोग्यप्राणिवर्गस्य **प्रेयसाम्** अत्यन्तप्रियाणां **गिरः** सदुपदेशरूपा वाचः। किमित्याह–**धत्त** धारयत मनसीति शेषः। तथो**च्चैः** अतिशयेन **तपो**ऽनशनादि रूपं येषां ते तथा, गुणप्राग्भारवत्त्वादेव, तपसि लब्धे यत् पुनस्तपोग्रहणं तत्सर्वेषामपि प्रव्रजितानां तत्र सर्वदादरख्यापनार्थम्। तथा **विकाशियशसां** सर्वत्रप्रसृतकीर्त्तीनाम्। ज्ञानादिमतां हि कीर्त्तिप्रसरो न दुर्लभ इति भावः। कीदृश्यो गिरः? **सम्यग**विरुद्धाः सिद्धान्तसम्बन्धिन्यः। अथ कथं धत्त? **सम्यग**वैपरीत्येन, न तूपदिष्टविपर्ययेणेति। केषामित्याह–**गुरूणां** ज्ञानादिमदाचार्यादीनाम्। अनेन कुगुरुगिरामवधीरणमेव सूचितमिति। अत्र वृत्ते [१] *प्रियस्थिरस्फिरोरुगुरुबहुलतृप्रदीर्घहस्ववृन्दारकाणां प्रस्थस्फवरगरबंहत्रपद्राघहसवर्षवृन्दा०* [सि.हे. ७-४-३८] इत्यनेन गुरुवृन्दारकबहुलप्रियशब्दानां यथासंख्यं *गुणादिष्ठेयन्सौ वेत्यनेन* इयन्सि प्रत्यये गरवृंदबंहप्रलक्षणादेशचतुष्टये सति गरीयसामित्यादीनां सिद्धिः। पटीयसां महीयसामित्यादेरप्येवमिति। अत्र वक्ष्यमाणे च वृत्तेऽनुप्रासविशेषोऽलङ्कार इति वृत्तार्थः॥ १४॥

---

१. 'प्रिय-स्थिर-स्फिरोरु-गुरु-बहुल-तृप्र-दीर्घ-वृद्ध-वृन्दारकस्येमनि च प्रा-स्था-स्फावर-गर-बंह-त्रप-द्राघ-वर्ष-वृन्दम् [सिद्धहेम० ७। ४। ३८] गुणाङ्गाद् वेष्ठेयसू' [सिद्धहेम० ७। ३। ९]। 'प्रिय-स्थिर-स्फिरोरु-बहुल-गुरु-वृद्ध-दीर्घ-वृन्दारकाणां प्र-स्थ-स्फ-वर्-बंहि-गर्-वर्ष-त्रप्-द्राघि-वृन्दाः' [पा० ६। ४। १५७] पा० सिद्धान्तकौमुदी २०१६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं बहुवचनेन गुरुस्वरूपमभिधाय तद्वचनावधारणोपदेशो दत्तः, अथैकवचनेन तत्स्वरूपाभिधानपूर्वकं तद्भक्त्युपदेशमाह—

मुक्तौ गन्तरि मोहहन्तरि सदा शास्त्रस्थितौ रन्तरि
ध्यानध्यातरि धर्मधातरि वरव्याख्यातरि त्रातरि।
विद्वद्भर्त्तरि शीलधर्त्तरि तमस्तोमं तिरस्कर्त्तरि
द्वेषच्छेत्तरि रागभेत्तरि गुरौ भक्ताः स्थ वाग्वेत्तरि॥ १५॥

व्याख्या—गुरौ भक्ताः स्थ इति सम्बन्धः। कीदृशे गुरावित्याह–गच्छतीति गन्ता तृच्प्रत्यये सप्तम्येकवचने च **गन्तरि** अवश्यगामुके। क्वेत्याह–**मुक्तौ** मोक्षे, अत्र च भाविन्यपि मोक्षगमने तदर्थानुष्ठानप्रवृत्तेर्वर्त्तमाननिर्देशोऽप्यदुष्टः। कुतः एतत्? यतो **मोहं** द्रव्यक्षेत्रादिप्रतिबन्धरूपमूर्च्छां हन्तीत्येवं शीलो मोहहन्तेति ताच्छीलिकतृन्प्रत्ययः। इह च [१]*न निष्ठादिषु* [ ] इति कर्मणि षष्ठीनिषेधात् द्वितीयासमासो द्रष्टव्यः, ततो **हन्तरि** ध्वंसके। एवं यथासंभवं तृन्-तृचौ सप्तम्येकवचनं च सर्वत्र योज्यम्। कुतो मोहहन्ता? यतः **शास्त्रस्थितौ** प्रवचनप्रतिपादितक्रियामर्यादायां **रन्ता** अत्यन्तासक्त्या क्रीडनशीलः। तामेव स्थितिमाह—ध्येयालम्बना बुद्धिधारा **ध्यान**मिति तस्य **ध्याता** परमात्मादिध्येयानुचिन्तकः। तथा **धर्मस्य** श्रुतचारित्रादिरूपस्य **ध्याता** सादरविधानेन पोषकः। एवं स्वार्थसम्पदमभिधाय परार्थसम्पदमप्याह—**वरः** आक्षेपणी–विक्षेपणीप्रभृतिकथाप्रवर्त्तकत्वेन प्रधानो **व्याख्याता** भव्येभ्यो धर्मदेशकः। अत एव **त्राता** भवभयाद्रक्षकः। कुत एवं व्याख्याता? यतो **विदुषां** तर्कागमसाहित्य-

---

१. न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् [२। ३। ६९। ६२७] एषां प्रयोगे षष्ठी न स्यात्। .....निष्ठा.....दैत्यान् हतवान् विष्णुः। .....-पा०सिद्धान्तकौमुदी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्षणादिविज्ञानां **भर्त्ता** स्वामी शिरोमणिकल्पः। तादृशोऽपि कश्चिच्छील-विकलो न गुरुः स्यादत आह-**शीलं** सर्वसावद्ययोगनिवृत्त्या चित्तसमाधानं तस्य **धर्त्ता** सम्यगात्मनि व्यवस्थापकः। तथा **तमस्तोमं** कुतीर्थिकसंसर्गादि-जनितं मिथ्यात्वाद्यन्धकारवृन्दं **तिरस्करोतीत्येवंशीलस्तस्मिन्**।

गुणानभिधायाथ विशेषेण दोषाभावमाह—परगुण-परप्राणप्रहाणादि-बुद्धिर्द्वेषस्तस्य **छेत्ता** सर्वथोन्मूलकः। तथा **रागस्य** कामिन्यादिकमनीय-पदार्थकामनालक्षणस्य **भेत्ता** विदारकः। एवं सम्यग्ज्ञानादिसमस्त-गुणवानपि वचनचातुर्याभावे सति न व्याख्यानादिना परोपकारी स्यादत आह-**वाचं** श्रीमज्जिनेन्द्रभाषितसिद्धान्तरूपां वाणीं **विन्दते** विचारयति *'विद विचारणे'* [पा०धा० १५४३] इति वचनात्, इति वाग्वेत्ता, स हि सम्यग्व्याख्यानादौ प्रवर्त्तत इति। अथोपदेशमाह-भो भव्याः! एवंविधे **गुरौ भक्ता** अभ्युत्थानादिसमस्तबाह्यप्रतिपत्तिभाजः **स्थ** भवथ, यूयम्, उपलक्षणं चैतदन्तरङ्गबहुमानस्येति। इह च **वाग्वेत्तरी**त्यादौ **सम्यग्ज्ञान-गरीयसां सुवचसा**मित्यादिभिः सह पौनरुक्त्याभासनेऽपि कथञ्चिदुक्त-नीत्या भेद एवेति। समस्तस्यापि धर्मानुष्ठानपादपस्य शुभगुरुप्रतीतिस्तत्सेवा च बीजमिति तदुपदेश इति वृत्तार्थः ॥ १५ ॥

अथ भवाद्धीतिरिति सप्तमं द्वारं विवृण्वन् भवस्यैव भयोत्पादनो-पयोगि स्वरूपमाह—

प्रोत्सर्पद्दर्पसर्पन्मृतिजननजराराक्षसे नोकषाय-
क्रूरोरुश्वापदौघे विषमतमकषायेद्धदावाग्निदुर्गे।
मोहान्धा भोगतृष्णातुरतरलदृशो भूरि बंभ्रम्यमाणा-
स्त्राणाय प्राणभाजो भववनगहने क्लेशमेव श्रयन्ते॥ १६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या—**प्राणभाजो भववनगहने क्लेशमेव त्राणाय श्रयन्त** इति सम्बन्धः। कीदृशे भवे इत्याह—**मृतिजननजराः** प्रसिद्धाः ता एव महारौद्रत्वेन **राक्षसा** रात्रिञ्चराः, ततश्च **प्रोत्सर्पद्दर्पाः** समुल्लसत्स्वानुरूपबाधाविधानोद्धुराः **सर्पन्तः** सर्वतः सञ्चरन्तो **मृतिजननजराराक्षसा** यत्र तत्तथा, तत्र। तथा **नोकषायाः** कषायसहचारिणो हास्यादयो नव, त एव भवे महाभयोत्पादकत्वात् **क्रूराः** क्षुद्रा **उरवः** महान्तः **श्वापदाः** सिंह-व्याघ्रादिपशुविशेषास्तेषा**मोघाः** समूहा यत्र तत्तथा, तत्र। तथा **विषमतमाः** कटुविपाकतया कण्टकाद्याकुलमार्गवदत्यन्तदुःखहेतुसञ्चारास्ते च ते **कषायाश्च** क्रोधादयस्त एव महासन्तापहेतुत्वा**दिद्धो** दीप्तो **दावाग्निः** आरण्यो वह्निस्तेन **दुर्गे** कृच्छ्रसञ्चारे। ईदृशे च **भववनगहने** संसारारण्यगह्वरे **प्राणभाजः** प्राणिनो **मोहान्धा**श्चतुर्थकर्मप्रकृतिनिरुद्धसम्यग्दृष्टिप्रचाराः। तथा **भोगतृष्णा** वैषयिकसुखानुभवपिपासा तया **आतुरा** किंकर्त्तव्यतामूढा **तरला** चञ्चला **दृग्** सम्यग्ज्ञानरूपा दृष्टिर्येषां ते तथा। एवंविधाश्च सन्तो **भूरि** प्रभूतकालं यावदिति भ्रमणक्रियाविशेषणं **बम्भ्रम्यमाणा** निरन्तरमत्यर्थं पर्यटन्तः सन्त**स्त्राणाय** भोगतृष्णादुःखनिवर्त्तनाय। किमित्याह—**क्लेशमेव**ाधिकतरतृष्णाहेतुमेव कान्तासङ्गमादिकं **श्रयन्ते** भजन्ते। येन ह्यधिकतरं सा विवर्द्धत एव। तदुक्तम्—

उपभोगोपायपरो वाञ्छति यः शमयितुं विषयतृष्णाम्।
धावत्याक्रमितुमसौ पुरोऽपराह्णे निजच्छायाम्॥

[ ]

अनुरणनव्यापारेण चात्रायमर्थः प्रतीयते। यथा केचिन्मृगादयो मोहान्धाः मूर्च्छा विशेषप्रतिबद्धदृष्टिव्यापारास्तृष्णातुरतरलदृशो भूरिकालं वनगहने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भ्राम्यन्तस्तत्तृष्णानिवर्त्तनाय क्लेशमेव मृगतृष्णाद्यनुसरणं विदधत्येव-मेतेऽपीति। यत एवंविधो भवस्तस्मात् समीचीनैव ततो भीतिरिति वृत्तार्थः॥ १६॥

अथ प्रतिजन्म विरुद्धरूपान्तराश्रयणेन वैराग्योपयोगि भवस्वरूपं सविषादमाह—

सुखी दुःखी रङ्को नृपतिरथ निःस्वो धनपतिः
प्रभुर्दासः शत्रुः प्रियसुहृदबुद्धिर्विशदधीः।
भ्रमत्यभ्यावृत्त्या चतसृषु गतिष्वेवमसुमान्
हहा संसारेऽस्मिन्नट इव महामोहनिहतः॥ १७॥

व्याख्या—चतसृषु गतिष्वसुमानेवं भ्रमतीति सम्बन्धः। कथं कथमित्याह-अयम् **असुमान्** जीवः कदाचित् **सुखी** स्यात् इष्टसंयोगाद्यानन्दवान्, स एव कदाचिद् **दुःखी** रोगादिबाधावान्। परं भवान्तरे कदाचित्तत्रैव वा भवे। तथा **रङ्को** द्रमको भिक्षुकादिः स एव **नृपतिः** भूपः। एवम् **अथ** अनन्तरं **निःस्वो** निर्धनो **धनपतिः** ईश्वरः **प्रभुः** स्वपोष्यापेक्षया स्वामी, **दासः** मूल्येन क्रीतः कर्मकरविशेषः। तथा **शत्रुः** पितृवधादिनिमित्तेन वैरी स एवानुकूलाचरणादिना **प्रियसुहृद्** वल्लभमित्रम्। तथा **अबुद्धिः** नञः प्रसज्यवृत्तित्वेऽबुद्धिः सर्वथा बुद्धिविकलः, पर्युदासवृत्तौ तु विपर्यय-ज्ञानवान्, स एव **विशदधीः** अतिसूक्ष्मपदार्थविवेचनचतुरबुद्धिः। उपलक्षणं चैतत् परस्परविरुद्धसुखित्वादियुगलषट्कम्। तेन सुरूप-विरूप-सुभग-दुर्भगादिकमपि द्रष्टव्यम्। किमित्याह-**एवं** सुखित्वादिप्रकारेणा-सुमान् प्राणी **चतसृ**ष्वपि नरकादिगतिषु **हहे**ति खेदेऽ**स्मिन्** प्रत्यक्षोपलभ्यमानस्वरूपे **संसारे** भवे **भ्रमति** पर्यटति। कथमित्याह—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभ्यावृत्त्या पौनःपुण्येनेति पदघटना कार्या। तिर्यक्ष्वपि तारतम्येन सुखित्वादिकं द्रष्टव्यम्। अत्रोपमानमाह-**नट इव** शैलूषवत्, यथा नटो नानारूपत्वेन विपरिवर्त्तते तथाऽसुमानपीति। एवं च यत्रैकस्यापि पिशाचादेरिव क्षणे क्षणेऽन्यरूपता तस्माद्भयमवश्यं भावीति तेनोपदिष्टं **भवाद्भीतिर**स्त्विति। अत्र *वृत्तेरसमासाया वैदर्भीरीतिरेकैव* [रुद्रट-काव्यालं० २। ६] इति वचनाद् वैदर्भीरीतिः। इति वृत्तार्थः॥ १७॥

अथाष्टममात्मनीतिद्वारं विवृण्वन्नात्मनीतिमेव स्वरूपतः प्राह—

सख्यं साप्तपदीनमुत्तमगुणाभ्यासः परोपक्रिया
सत्कारो गुरुदेवतातिथियतिष्वायत्यनुप्रेक्षणम्।
स्वश्लाघापरिवर्जनं जनमनःप्रेयस्त्वमक्षुद्रता
सप्रेम प्रथमाभिभाषणमिति प्रायेण नीतिः सताम्॥ १८॥

व्याख्या—इति नीतिः सतामिति सम्बन्धः। नीतिमेवाह-**सख्या** मित्रं तस्य भावः कर्म वेति सख्यम्। कीदृशमित्याह-**पदानि** सुप्तिङन्तानि वचनानि चलतः पादमुद्रा वा, ततश्च **सप्तभिः** सप्तसंख्यैः पदैरवाप्यमिति समासे *समांसमीनाद्यश्वीनाद्यप्रातीनागवीनसाप्तपदीनम्* [सि.हे. ७। १। १०५] इत्यनेन ईनप्रत्ययान्तं साप्तपदीनमिति निपात्यते। कर्त्तव्यमिति शेषः। शिष्टा हि सप्रश्रयं केनापि सह वचनसप्तकं भाषन्ते पदसप्तकं वा सञ्चरन्ति तावतै-वाऽऽजन्म तेषां सख्यं सम्पद्यते। तथो**त्तमगुणा** ज्ञानादिधर्मोपेता आचार्यादय-स्तेषा**मभ्यासः** सामीप्यावस्थानम्, अथवोत्तमगुणाः गाम्भीर्यधैर्यौदार्यादय-स्तेषामभ्यासः पौनःपुण्येन करणम्, तेन हि निर्गुणसंसर्गपरिहारः स्यात्। तथा **परेषाम्** आत्मव्यतिरिक्तानामु**पक्रियो**पकारस्तदुपष्टम्भविधानम्। तयापि सर्वजनस्नेहपात्रता स्यात्। तथा **सत्कारः** सबहुमानमुपचारः। केषु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय इत्याह–**गुरवः** लोकलोकोत्तरपूज्या आचार्यजनकादयः, **देवता** वीतरागादयो देवाः, **अतिथयः** प्राघूर्णकाः, **यतयः** सुविहितसाधवस्ततो गुरवश्च देवताश्चेत्यादिद्वन्द्वः। एषु यथाक्रममासनदानाञ्जलिप्रग्रहादिकः पुष्पाद्यारोपण–पादप्रक्षालन–भोजनादिक–शय्या–पुस्तकाऽऽहारादिदानरूपश्च कर्त्तव्यः। एषोऽपि लोकलोकोत्तरव्यवहाराभिज्ञत्वसूचकः स्यात्। तथा कार्यारम्भे **आयतेः** आगामिकालस्य शुभाशुभपरिणामहेतोः **अनुप्रेक्षणं** चिन्तनम्, अस्यापि सहृदयत्वव्यवस्थापकत्वात्। तथा **स्वश्लाघायाः** आत्मप्रशंसायाः **परिवर्जनं** परिहारः अस्याप्यतुच्छताव्यञ्जकत्वात्। तथा **जनमनसां** सहृदयलोकचित्तानां **प्रेयस्त्वम्** अत्यन्तवल्लभत्वम्, सर्वदापि तद्वाल्लभ्यहेत्वनुष्ठानपरत्वात्। अनेनापि सूत्राप्रतिक्रुष्टत्वलक्षणविशेषेण धर्माधिकारित्वप्रकाशनात्। तथा **अक्षुद्रता** परच्छिद्राद्यगवेषकत्वेनाक्रूरता। अनेनापि सर्वविश्वास्यत्वस्य दर्शनात्। तथा **सप्रेम** प्रीतिपूर्वकं **प्रथम**मालपनीयकृतालापात् प्रागे**वाभिभाषण**मालपनम्, अनेनापि आभाष्यविषयसौहार्दविशेषाविष्करणात्। **इति**शब्दः परिसमाप्तौ। इत्येषोपदर्शितरूपा **नीतिः** सभ्यसमाचारः **प्रायेण** बाहुल्येन न त्वैषैव, अन्यस्याप्येवंरूपस्य मूढसंसर्गवर्जनादेर्बहोः प्रदर्शनात्। **सतां** शिष्टानामिति वृत्तार्थः ॥ १८ ॥

एवं सामान्येन सतां नीतिमभिधायाथ विशेषेण केवलवचनमनःकायगतत्वेन तामाह—

तथ्या पथ्या यथार्थस्फुटमितमधुरोदारसारोच्यते वाक्
चेतश्च क्षोभलोभस्मयभयमदनद्रोहमोहप्रमुक्तम्।
कार्यं देहं च गेहं व्रतनियमशमौचित्यगाम्भीर्यधैर्य–
स्थैर्यौदार्यार्यचर्याविनयनयदयादाक्ष्यदाक्षिण्यलक्ष्म्याः॥ १९॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या–वागुच्यते सतेति योगः। कीदृशीत्याह–**तथ्या** सत्या, **पथ्या** हितानुबन्धिनी तथा **यथार्था** अभिधेयपदार्थाव्यभिचारिणी। सत्या हि *किं सत्यं? भूतहित* [ ] मिति वचनात्, पलायितं मृगं वधाय पृच्छतो व्याधस्य दृष्टमृगस्यापि मुनेस्तददृष्टत्वप्रतिपादनं सत्यमेवेति, न यथार्थया सह पौनरुक्त्यम्। **स्फुटा** व्यक्तवर्णा, **मिता** अल्पाक्षरा, **मधुरा** श्रोत्रानन्दिनी, **उदारा** कालिकार्यस्येव आत्मप्राणनिरपेक्षत्वेन जीमूतवाहनस्येव वा परप्राणरक्षा-प्रधानत्वेन स्फारा, **सारा** साभिप्रायत्वेन पुष्टार्था, न तु *'गोरपत्य बलीवर्दस्तृणान्यत्ति मुखेन स'* इत्यादिवत्फल्गुरूपा। ततश्च यथार्था चासौ स्फुटा चासावित्यादि कर्मधारयः। ईदृशी **वाग्** वाणी **उच्यते** भाष्यते सद्भिस्तस्मात्सैव तैर्वाच्येति भावः। यद्यपि करणेष्वन्तरङ्गत्वान्मनसः श्रुते च दण्डगुप्त्यादिप्रतिपादकेऽस्यैवाऽऽद्यत्वश्रुतिस्तथापि सर्वपदार्थानामुपदेश-गम्यत्वादुपदेशस्य च वाग्रूपत्वाद्वाच एव प्राधान्यविवक्षयाऽत्रादावुपन्यासः। एवं वचनमुपदिश्याथ मनोविषयमुपदेशमाह–**चेतश्चे**ति, **चः** समुच्चये, तेन न केवलं वागेवेदृशी कार्या अपि तु मनोऽपि कार्यं विधेयम्। कीदृश-मित्याह–**क्षोभः** आकस्मिकस्त्रासः, **लोभः** न्यायेन परद्रव्यग्रहणेच्छा, **स्मयः** अहंकारः, **भयम्** इहलोकादिसप्तप्रकारा भीतिः, **मदनः** कामः, **द्रोहः** परवञ्चना प्राणप्रहाणाद्यभिसन्धिः, **मोहः** अज्ञानं द्रव्यादिमूर्च्छा वा। ततश्च क्षोभश्च लोभश्चेत्यादिद्वन्द्वे तैः **प्रमुक्तं** प्रकर्षेण परिहृतं **कार्यं** विधेयम्। एतत्परित्यागस्यैव शिष्टत्वव्यञ्जकत्वात्। तथा **देहं** च शरीरमपि कार्यमित्येतत् पदमिहापि सम्बध्यते। कीदृशमित्याह–**गेहं** मन्दिरमावास इति यावत्। कस्या इत्याह–**व्रतानि** अणुव्रतादीनि, **नियमाः** द्रव्याद्य-भिग्रहाः, **शमः** क्रोधाभावः, **औचित्यं** युक्तायुक्तविवेचनेन दानादौ प्रवृत्तिः, **गाम्भीर्यं** हर्षविषादादिष्वलक्ष्यचित्तवृत्तिता, **धैर्यं** महापद्यप्यविह्वल-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चित्तत्वम्, **स्थैर्यं** प्रारब्धकार्यस्य कथञ्चिद्विघ्नाकुलत्वेऽपि व्यवसायादचलनम्, **औदार्यं** स्वजीवितनिरपेक्षत्वेन परप्राणपरिरक्षणम्, निःशङ्कवित्तव्ययेच्छा वा। आरादूरे याताः पापेभ्य इत्**यार्याः** शिष्टास्तेषां **चर्या** समाचारः साप्तपदीनसख्यत्वादिलक्षणः पूर्वोक्त एव। **विनयः** गुर्वादिष्वासनदानादिप्रतिपत्तिः, **नयः** पैशुन्यद्रोहादित्यागरूपो न्यायः, **दया** निःकारणं परदुखःप्रहाणेच्छा, **दाक्ष्यं** क्षिप्रकार्यकारिता, **दाक्षिण्यं** परोपरोधवृत्तिता। ततश्च व्रतानि च नियमाश्चेत्यादिद्वन्द्वे, तेषां **लक्ष्मीः** श्रीस्तत्तद्गुणबाहुल्यं तस्याः। इह च यद्यपि शमगाम्भीर्यादीनां मानसिकत्वं तथापि तत्कार्यस्य निर्विकारत्वादेः शरीर एवाभिव्यक्तेः शारीरगुणेषु दर्शनमविरुद्धमेव। यत्र चात्मनीतौ वाङ्मनःशरीराणामपवर्गोपयोगिन्यत्यन्तविशुद्धिस्तत्र सर्वान्यधर्म्यपदेभ्य उद्यत्वं युक्तमेवेति पर्यालोच्योद्देशे उद्यत्वमुक्तमिति। तथा *'शब्दाः समासवन्तो भवन्ति यथाशक्ति गौडीया [रुद्रट काव्यालं० २।५]' इति* वचनादत्र गौडीया रीतिरिति वृत्तार्थः॥ १९॥

अथ नवमं क्षान्तिद्वारं विवृण्वंस्तस्या एव कार्योपदर्शनद्वारेण कर्त्तव्यतोपदेशमाह—

प्रीत्या भीत्या च सर्वं सहति किल शठोऽप्यश्नुते चेष्टमेवं
कार्यं कुर्यात् क्षमी यन्न तदिह कुपितः स्पष्टमेतज्जनेऽपि।
तस्मादप्युग्ररागद्विषि मिषति रिपौ सर्वशास्त्रोदितायां
सर्वाभीष्टार्थलाभप्रभवकृति सदा वर्त्तितव्यं क्षमायाम्॥ २०॥

व्याख्या—वर्त्तितव्यं क्षमायामिति योगः। कुतः? यतः शुभभावं विनाप्येषा क्षान्तिर्विधीयमानाऽभीष्टफला भवति। कथमित्याह—**प्रीत्या** अत्यन्तप्रेम्णा कश्चित्कामी **शठोऽपि** कान्तायां वञ्चनापरिणामवानपि। आस्तामशठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इत्यपेरर्थः। **सहति** क्षमते। सहतेः परस्मैपदं पूर्वकविप्रामाण्यात्। **किलेत्या**प्तवादे। किमित्याह–**सर्वं** दुर्वचन-पादप्रहारादिकमवज्ञाविशेषं समस्तम्। ततः किमित्याह–**अश्नुते** लभते, **चे**ति चः समुच्चये, न केवलं सहते लभते चेत्यर्थः। किमित्याह–**इष्टम्** अभिमतमालिङ्गनादिकम्, **एवं** पूर्वोक्तं सहमानः, न केवलं प्रीत्या कश्चित् कर्मकरादि**भीत्या**पि भयेनापि राज्ञः सम्बन्धि सर्वमवज्ञादिकं सहतेऽभीष्टं च द्रव्यादिकं लभते, शठोऽपि अभक्तिमानपि। एवं तावदशुद्धचित्तस्यापि सहने गुणः प्रतिपादितः। अथ प्रकारान्तरेण तद्गुणमाह–**एत**दिदं **जनेऽपि** सामान्यलोकेऽपि **स्पष्टं** व्यक्तं प्रवर्त्तते। यदुत कदाचित् कश्चित् कुपितस्वामिदुष्टवचनेऽपि सति तदवमत्यविशेषेणाराधकः सन् **कार्यं** प्रयोजनं विशिष्टाधिकारप्राप्तिलक्षणं **कुर्यात्** साधयेत्। **क्षमी** तद्वचनसहनपरायणः। तथा च **यत्** क्षमी साधयति **तन्न** कदाचित् **कुपितः**। तथा चोक्तम्—

क्षमी यत् कुरुते कार्यं न तत्कोपवशं गतः।
कार्यस्य साधनी प्रज्ञा सा हि क्रुद्धस्य नश्यति॥

[ ]

कोपात्तदसहने हि प्रत्युत प्रभोः प्रभूततरावज्ञास्पदमेव स स्यात्। एवं सहन-गुणमभिधायाथोपदेशमाह–**तस्मात्** कारणात् **अपिः** भिन्नक्रमस्तेन **उग्रारागद्विष्यपि रिपौ** क्षमायां वर्त्तितव्यमिति योगः। तत्र रागस्तस्यैव रिपोः स्वकीयविनाशितजनकादिविषयो द्वेषणं च द्विट् द्वेषो घातकविषय-स्तत**श्चोग्रे** अत्युत्कटे रागद्विषौ यस्य, तत्रापि, एवंविधे हि रिपौ प्रायः क्षमा दुष्करा भवतीति सूचनार्थोऽपिशब्दः। तथा **मिषति** घातकेन सह स्पर्द्धमाने न तु प्रणते। कीदृश्यां क्षमायाम्? **सर्वे**षां दर्शनिनां यानि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्राणि सिद्धान्ता वेदप्रज्ञापारमिताङ्गोपाङ्गादीनि ते**षूदिता** समीचीनत्वेन कर्त्तव्यतया प्रतिपादिता तस्याम्। ईदृश्यपि कदाचिदात्माऽपवर्गादिप्रतिपादक-प्रसिद्धार्थवाक्यवन्नाभिमतफलसाधिका स्यादत आह–**सर्वे** समस्ता ऐहिकपारत्रिकादयो**ऽभीष्टा** अभिमता **अर्थाः** प्रयोजनानि राज्यस्वर्गापवर्गादीनि तेषां **लाभः** प्राप्तिस्तस्य **प्रभवः** उत्पादस्तं करोतीति **कृत्** तस्यां तत्**प्रभवकृति**, **सदा** सर्वकालं **वर्त्तितव्यं** वर्त्तनीयम्। **क्षमायां** निर्विवेकजनविहिताक्रोशताडनादिसहनरूपायाम्। अयमभिप्रायो या सर्वशास्त्रोक्ता सर्वार्थसाधिनी चेति ज्ञाता क्षमा सा शत्रुविषयेऽपि विवेकभाजा कर्त्तव्यैवेति चिन्तयता। तद्यथा—शप्तोऽस्म्यनेन न हतोऽस्मि, हतोऽस्मि यद्वा नो मारितोऽस्मि, मरणेऽपि न धर्मनाशः। क्रोधस्तु धर्ममुपहन्ति चिनोत्यघं च सञ्चिन्त्य चारुमतिनेति तितिक्षणीयमिति वृत्तार्थः॥ २०॥

अथ क्षमाया एवं गुणोपदर्शनपूर्वकं नामान्तरेण तत्प्रवर्त्तनोपदेशमाह–

दशविधयतिधर्मस्यादिमं क्षान्तिरङ्गं
विमलगुणमणीनां रोहणाद्रिः क्षमैव।
तदिति कुशलवल्लिप्रोल्लसल्लास्यलीला-
कुसुमसमयमुच्चैर्धत्त रोषप्रमोषम्॥ २१॥

व्याख्या–**दशविधस्य** दशप्रकारस्य **यतिधर्मस्य** सुसाधुकृत्यविशेष-**स्यादिमं** प्रथमं **क्षान्तिः** क्षमा। तथा चोच्यते–*'क्षान्तिमार्दवार्जव-मुक्तितपःसंयमसत्यशौचाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि यतिधर्मः' [तत्त्वार्थ० ९। ६]*। इत्यत्रादिनिर्देशादेव तावद्रसेषु शृङ्गारस्येवास्याः प्राधान्यमवसीयते। न केवलं यतिधर्मोद्यमतायाः प्राधान्यमपि तु विशिष्टकार्यनिदानत्वादपीत्याह–**विमला** निर्मला **गुणा** सर्वजनविश्वसनीयत्वाचार्याद्याराधकत्वसमस्त-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वकार्यसाधकत्वादयो धर्मास्त एव विशिष्टज्ञानोद्योतबीजत्वान्मणयो रत्नानि तेषां सर्वेषामुत्पत्तिभूमित्वाद् **रोहणाद्रिः** पद्मराग-वैडूर्य-पुष्परागादि-रत्नोत्पत्तिहेतुः पर्वतविशेषः। केत्याह-**क्षमैव** क्षान्तिरेव, नान्यः कोऽपि गुण एवं विशिष्टगुणान्तरोत्पादक इति भावः। **तदिति** इतिशब्दो हेत्वर्थः। ततश्चैवं योजना कार्या-यतः क्षमा पूर्वोदितगुणवती तत्तस्माद्धत्त **रोषप्रमोषम्**। कीदृशम्? **कुशलानि** पुण्यकर्माणि तान्येव सुकृतात्मनां प्रवर्द्धनसाधर्म्याद्वल्लयः लतास्तासां **प्रोल्लसन्त्यः** उजृम्भमाणास्ताश्च ता **लास्यलीलाश्च** नर्त्तनक्रीडाः, नर्त्तनं चेह मलयमारुतान्दोलितानां विकसितपुष्पत्वम्। तत्र **कुसुमसमयो** वसन्तस्तम्। उपदेशमाह-**धत्त** धारय**तोच्चै**रतिशयेन। कमित्याह-**रोषस्य** कोपस्य **प्रमोषः** निःशेषतया निग्रहस्तम्। क्षमाया एव नामान्तरमिदमिति। *तद्युक्तश्च लकारः [रुद्रट काव्यालं० २। २०]* इति वचनादत्र मधुरा वृत्तिरिति। मालिनीवृत्तार्थः॥ २१॥

अथ दान्तिरिति दशमं द्वारं स्पष्टीकुर्वन्निन्द्रियवशवर्त्तिताया दोषानुपदर्शयंस्तद्दमोपदेशमाह—

विद्याकन्दासिदण्डः कुगतिसुरगृहप्रोल्लसत्केतुदण्डः
प्रद्वेषश्लेषहेतुः सुगतिजलधिनिस्तारविस्तीर्णसेतुः।
शस्त्रं सत्सङ्गरङ्ग्वा व्यसनकुलगृहं रागयागाग्र्ययज्वा,
हारिष्टं शिष्टतायाः करणवशगता तद्दमेऽतो यतध्वम्॥ २२॥

व्याख्या-विद्या सम्यग्ज्ञानं तद्धेतुभूतं शास्त्रं च सैव समस्त-सदनुष्ठानतरुमूलत्वात् **कन्दो** बीजस्यादिकार्यम्। तत्रा**सिदण्डः** समूलोच्छेदकत्वात् खड्गयष्टिः। कासावित्याह-**करणानि** इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि तेषां **वश** आयत्तता तं गच्छन्ति यान्तीति **करणवशगाः** पुरुषास्तेषां भावः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करणवशगतेति विशेष्यं कर्तृपदम्, शेषाणि तु तन्निन्दकविशेषणानि। तथा **कुगतिः** दुर्गतिः सैव नानाद्भुतरूपाश्रयत्वात् प्रभूतजनापचितिहेतुत्वाच्च **सुरगृहं** देवमन्दिरम्। तस्य प्रज्ञापकत्वात् **प्रोल्लसन्नत्युन्नतिमत्त्वात् केतुदण्डः** ध्वजयष्टिः। यथा ध्वजदण्डेन दूरतोऽपि सुरमन्दिरम् ज्ञायते। तत्र तस्यावश्यंभावित्वादेवमनया दुर्गतिरवश्यंभाविनी ज्ञाप्यते। तथा **प्रद्वेष-स्येन्द्रियविषयोपघातिनि** जनकोपाध्यायादावप्युत्कटक्रोधस्य **श्लेषो** निबिड-सम्बन्धस्तस्य **हेतुः** कारणम्। तथा **सुगतिः** स्वर्गादिका सैव नानानन्दमणि-गणोपचितत्वाज्**जलधिः** समुद्रस्तस्य **निस्तारः** पारगमनम्। तत्र **विस्तीर्णो महीयान् सेतुः** काष्ठादिमयः सञ्चारपथः। यथा सुनिबिडसेतुना सिन्धुः स्पृश्यतेऽपि न, तथाऽनया न मनागपि सुगतिरिति। तथा **शस्त्रं** सर्वथोच्छेद-कत्वात्तीक्ष्णक्षुरप्रादिप्रहरणम्। कस्या इत्याह–**सद्भिः** सज्जनैः सह **सङ्गः** सम्पर्कः स एवानेकगुणहरिणाकर्षणहेतुत्वा**द्रज्जुः** वरत्रा तस्याः। इन्द्रियलम्पटस्य हि सत्सङ्गो न सुखायत एवेति भावः। तथा **व्यसनानि** प्रभूतराजाद्युपद्रवास्तेषां **कुलगृहं** निवासमन्दिरम्। अत्यन्तेन्द्रियासक्तो हि गम्यागम्याविभागेन परदारादावपि प्रवृत्तो राजादिग्राह्योऽपि भवतीति भावः। एकैकेन्द्रियावशत्वे हि मृगगजादीनां मारणान्तिकाऽऽपच्छतश्रवणात्, किं पुनः समस्तेन्द्रियावशानाम्। तथा **रागः** कमनीयकामिन्यादिविषयाभिलाषः स एवातिस्निग्धमधुरौदनाज्यमध्वादिसाध्यत्वा**द्यागो**ऽध्वरस्तस्याग्र्यः प्रधानो **यज्वा** याजकः। यथा हि यज्वना यागः साध्यते तथाऽनया राग इति। **हेति** खेदे। **अरिष्टं** नगरराज्यादिध्वंससूचको भूकम्पनिर्घातादिरुत्पात-विशेषः। कस्याः? **शिष्टतायाः** सज्जनतायाः, यथाऽरिष्टं नगरादेर्ध्वंसं सूचयति तथेयं शिष्टताया इति भावः। **करणवशगतेति** योजितमेव। यत एवमनेकानर्थहेतुः करणवशगताऽ**तो**ऽस्मात् कारणात्। किमित्याह–**यतध्वं**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महायत्नं कुरुत भो भव्याः! क्व विषय इत्याह–तेषां करणानां **दमनं** दमो वशीकारस्तत्र। समासान्तर्गतस्यापि **करण**शब्दस्यात्र तच्छब्देन परामर्शः। एवमनेकत्र कविप्रयोगदर्शनादिति। इह च *'तद्रूपकमभेदो उपमानोपमेययोरिति'* [काव्यप्रकाश सूत्र १४०] लक्षणदर्शनाद्रूपकाख्योऽलङ्कारः। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्य इति वृत्तार्थः ॥ २२॥

अथेन्द्रियाणामेव महाप्रलयरूपसंग्रामादिनिदानत्वमाह—

प्रेङ्खत्खड्गाग्रभिन्नोत्कटकरटिघटाकुम्भकीलालकुल्या-
वेगव्यस्तभ्रकुट्युद्भटभटपटलीलूनवक्त्राम्बुजानि।
क्रुद्धोद्धावत्कबन्धव्यतिकरविफलायस्तशस्त्राण्यभीक्ष्णं
भूयांसः प्रापुरत्र क्षयमिति करणैः कार्यमाणा रणानि॥ २३॥

व्याख्या–भूयांसः करणै रणानि कार्यमाणाः क्षयं प्रापुरिति सम्बन्धः। कीदृशानि रणानि? **प्रेङ्खन्तः** सुभटकराग्रेष्वत्यन्तदीप्यमानाः **खड्गाः** करवालास्तेषामग्राणि धारास्तैर्भिन्ना विदारिता ये **उद्भटकरटिघटाया**ः बलिष्ठमहेभसन्ततेः **कुम्भाः** शिरःकूटास्तेषां **कीलालं** रुधिरं तस्यातिबाहुल्यात् **कुल्या** नदीविशेषस्तथा चोच्यते-*'कुल्याल्पा कृत्रिमा सरित् [अमरकोष १/१०/३४]* इति, तस्या **वेगो** रंहसा वहनम्, तेन कोपवशाद् भ्रुवोरुच्चैर्नयनं **भ्रकुटिस्तयोद्भटा** अतिरौद्री सा चासौ **भटपटली** च सुभटसंहतिश्च तस्या **लूनानि** वैरिभिश्छिन्नानि तानि च तानि **वक्त्रा**ण्येवातिविकस्वरसुरभित्वादम्बुजानि कमलानि। ततश्च **व्यस्तानि** क्षिप्तानि **भ्रकुट्युद्भटपटलीलूनवक्त्राम्बुजानि** येषु तानि तथा। पुनः कीदृशानि? **क्रुद्धा** रोषपरायणा **उद्धावन्तो** वेगेन द्रवन्तस्ते च ते **कबन्धा**श्च छिन्नशिरांसि शरीराणि तेषां **व्यतिकरः** परस्परसम्बन्धस्तेन **विफलानि** शून्यप्रक्षेपेण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्यकरणाक्षमाणि **आयस्तानि** क्षिसानि **शस्त्राणि** कुन्ततोमरादीनि येषु तानि तथा। 'सहस्रसुभटनिपाते कबन्धा नृत्यन्तीति' प्रसिद्धिः। ततश्चैतावता महासंग्रामहेतुत्वमेषां दर्शितं भवति। इत्येवं **करणैः** इन्द्रियैः हेतुभूतैः **कार्यमाणाः** विधाप्यमानाः पुमांसो **भूयांसः** अतिप्रचुराः **क्षयं** ध्वंसं **प्रापुः** लेभिरे। **अत्र** संसारे **अभीक्ष्णं** निरन्तरं न त्वैकदैव। श्रूयन्ते हि रामरावणादीनां सुभटकोटिक्षयकारीण्यनन्यतुल्यानि युद्धानि। तथा चोच्यते—*'गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव॥' परिशिष्टा भद्रायाम् [रुद्रट काव्यालं० २। २९]* इति वचनादत्र भद्रा नाम वृत्तिः। तथाऽत्र प्रथमार्द्धे गौडीया रीतिरिति। यदा चैषामेवमत्यन्तासमञ्जसकारित्वम्। ततो युक्तैवैषां दान्तिरिति वृत्तार्थः॥ २३॥

एवं बाह्येन्द्रियदमोपदेशमभिधाय चान्तरङ्गरिपुक्रोधादिनियमनेनात्मशान्तिद्वारमेकादशं विवृण्वन् कविकृतेर्वैचित्र्यादेकैकस्य क्रोधादेरुभयविशेषणोपेतत्वेनात्मशान्त्युपदेशमाह—

मानः सन्मानविघ्नः स्फुटमविनयकृत्क्रोधयोधः प्रबोध-
ध्वंसी वैरानुबन्धी प्रणयविमथनी सव्यपाया च माया।
लोभः संक्षोभहेतुर्व्यसनशतमहाधाम कामोऽपि वामो
व्यामोहायेति जित्वान्तरमरिविसरं स्वस्य शान्तिं कुरुध्वम्॥ २४॥

व्याख्या—**आन्तरमरिविसरं जित्वा स्वस्य शान्तिं कुरुध्वमिति** योगः। तमेवाह—**मानो**ऽहंकारस्तावत् **सन्मानस्य** जनकादिजनितबहुमानस्य **विघ्नः** अन्तरायः, माने हि सति जनकादावप्यप्रणामप्रवणत्वात्, कथं तत्कृतः सन्मानः। एतदपि कुतः? यतः **स्फुटं** व्यक्तम**विनयकृत्**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अभ्युत्थानासनदानादेशाद्यविधायकः वर्त्तत इति शेषः सर्वत्र। तथा **क्रोधः** कोपः स एव युद्धपरिणामपरमनिदानत्वाद्**योधः** सुभटः। सोऽपि कीदृशः? **प्रबोधध्वंसी** प्रकृष्टज्ञानविनाशकः। प्रवृद्धे हि तस्मिन् जनकादयोऽपि वैरिण इवाभान्ति। तथा **वैरं** विरोधं घातकादिभिः सहा**नुबध्नाति** तत्पुत्रपौत्रादिभिरपि सहानुषजति। तथा **माया** निकृतिरपि **प्रणयवि-मथनी** अविश्वासहेतुत्वात् प्रीतिनाशिनी। तथा विशिष्टा **अपाया** ऐहिक-पारत्रिकमहादुःखनिदानानि व्यसनानि। तत्रैहिकानि तावन्मित्रबान्धव-विघटनादीनि, पारत्रिकाणि तु दुर्गतितिर्यग्गतिप्राप्तिप्रमुखाणि। तथा चोच्यते—

मायापरस्स मणुयस्स झत्ति विहडंति बंधुमित्ता वि।
अस्संख तिक्खदुक्खे मयस्स उ ठिई तिरिक्खभवे॥

[ ]

ततश्च सह व्यपायैर्वर्त्तत इति **सव्यपाया। चः** समुच्चये। तथा **लोभः** अन्यायेन परद्रव्यापहरणेच्छारूपः। **संक्षोभः** आकस्मिकस्त्रासः। भवति हि लोभवतो द्रव्योपार्जनायाऽतिरौद्रारण्यप्रवेशसमुद्रतरणादिप्रवृत्तस्याकस्मिकं भयम्। तथा **व्यसनशतानि** राजादिप्रभूतोपद्रवास्तेषां **महाधाम** विस्तीर्णा-वासः। भवन्ति हि लोभवतः समुपार्जितप्रभूतद्रव्यवतो व्यसनानि। तथा **कामोऽपि** कामिन्याद्यभिलाषरूपोऽपिशब्दः समुच्चयार्थः। ततश्च **वामो** विपरीतस्वभावस्तावत् विद्यमानादर्शन-असद्दर्शनस्वभावत्वात्। तदुक्तम्—

दृश्यं वस्तु परं न पश्यति जगत्यन्धः पुरोऽवस्थितम्,
रागान्धस्तु यदस्ति तत्परिहरन् यन्नास्ति तत्पश्यति।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चन्द्रेन्दीवर-कुन्द-पूर्णकलश-श्रीमल्लतापल्लवा-
नारोप्याशुचिराशिषु प्रियतमागात्रेषु यन्मोदते ॥

[ ] इति।

अथवा व्यसनशतमहेत्यादि विशेषणमिहाप्यौचित्यात् सम्बध्यते, काकाक्षिगोलकन्यायेन। एवं चायमपि **व्यामोहाय** विपर्ययज्ञानविशेषाय सम्पद्यत इति शेषः। भवति हि मदनातुरस्यागम्यायामपि योषिति गम्येयमिति प्रतीतिः। **इति**शब्दो हेत्वर्थस्ततो यत एते मानादयः शत्रवः सर्वेऽप्येवंरूपा आजन्मसन्तापकारिण एव। ततो **जित्वा**ऽभिभूयान्तरं मनोमात्रप्रभव**मरिविसरं** शत्रुसमूहम्, न तु जनकघातकादिवद् बाह्यमिति भावः। **स्वस्या**त्मनः **शान्तिं** सन्तापोपशमरूपस्वस्थतां **कुरुध्वं** विधत भो भव्याः! भवन्ति हि क्रोधादयोऽपि सन्तापकारिण इति वृत्तार्थः॥ २४॥

एवजातीयान्यन्यान्यपि सन्तापकारीणि वर्जनीयान्युपदर्शयंस्तत्रात्मनोऽप्रभविष्णुत्वमाकलयन् सविषादमाह—

कान्ता कान्ताऽपि तापं विरहदहनजं हन्त! चित्ते विधत्ते
क्रीडा व्रीडा मुनीनां मनसि मनसिजोद्दामलीलाऽपि हीला।
गात्रं पात्रं विचित्रप्रकृतिकृतसमायोगरोगव्रजानां
सोऽहं मोहं निहन्तुं तदपि कथमपि प्रेमरक्तो न शक्तः॥ २५॥

व्याख्या—कान्ता भार्या **कान्ताऽपि** अत्यन्तमनोहराऽपि **तापम्** अन्तर्दाहं **विधत्ते** करोति प्रायः सर्वस्य। कीदृशम्? **विरहदहनजं** विप्रयोगज्वलनोद्भवम्। **हन्ते**ति खेदे। **चित्ते** मनसि तस्माद्यद्यपि तत्सङ्गोऽमृतायते कामिनां तथापि विरहविषमिश्रितत्वात्तापहेतुरेवेति, तत्त्यागेनैवात्मशान्तिरिति भावः। एवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रीडादिष्वपि द्रष्टव्यम्। तथा **क्रीडा** वसन्तादावुद्यानसलिलसम्भोगादिरूपा विलासचेष्टा। सापि किमित्याह-**व्रीडा** परमार्थतो लज्जा जुगुप्साहेतुचेष्टात्वात्। यद्यपि कामिनां परमोत्सवोऽसौ तथाऽपि **मुनीनां** यथावस्थितवस्तुतत्त्वावगमवतां *'सव्वं गीयं विलवियं सव्वं नट्टं विडंबणा* [ ] इत्यादि परिभावयतां बालकधूलीगृहरमणमिव प्रतिभासते, **मनसि** चेतसि भिन्नवाक्यत्वात् न पूर्ववाक्यस्थचित्तपदेन पौनरुक्त्यमिति। तथा **मनसिजस्य** कामस्योद्दामा उद्भटा अत्युत्कटास्ताश्च ता **लीलाश्च** कटाक्षविक्षेपविभ्रमविब्बोकादयः कामिजनानन्दकन्दायमानास्ता **अपि**। किमित्याह-**हीला** परमार्थतो निन्देव निन्दा, तद्वत् सन्तापहेतुत्वान्मुनीनां **मनसी**त्यत्रापि सम्बध्यते। यच्च यथा तेषां मनसि विशते तदेव तत्त्वमिति। तत एषाऽपि तापहेतुरेव। तथा **गात्रं** शरीरमप्यनेकाशानिबन्धनम्। तदपि किमित्याह-**पात्रं** भाजनम्। केषामित्याह-**विचित्रा** अनेकाः **प्रकृतयः** वातपित्तश्लेष्मतत्सन्निपातादिरूपा धातवस्ताभिः **कृतो** विहितः समुद्भवलक्षणः **समागमो** येषां ते तथा। ते च ते **रोगव्रजाश्च** ज्वरादिव्याधिसमूहास्तेषाम्। व्रजशब्देनैव बहुवचनोपादानं चैकप्रकृतीनामपि बहुत्वसंसूचनार्थम्। तथाहि—वातप्रकृतयोऽशीतिः, एवं पित्तप्रभवाश्चत्वारिंशत्, श्लेष्मप्रभवा विंशतिरिति युक्तं **व्रजानामपि** बहुत्वम्। तथा चोक्तं **वाग्भटसारोद्धारे**—

अशीतिर्वातजाः रोगाश्चत्वारिंशच्च पित्तजाः।
विंशतिः श्लेष्मजाश्चैव शिष्टाः स्युः सान्निपातिकाः॥

[ ]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा च तदप्युत्तापहेतुरेवेति सर्वस्याप्यस्य निवृत्तिः कर्तुमुचिता। परं **सोऽहम्** इति अनेन निविडतरदुःकर्मजलदपटलसमाच्छादितसद्बुद्धितरणि-रूपमात्मानं मानसप्रत्यक्षवेद्यं तच्छब्देन परामृशति। अनुभूतार्थविषयस्य तच्छब्दस्य यच्छब्दोपादानमन्तरेणापि *'ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ति* [ ] इत्यादि बहुधा प्रयोगदर्शनात्। ततश्च सोऽहं दुःकर्मबहलः, मोहं तत्तद्विषयगाढप्रतिबन्धम्, **तदपि** तथापि यद्यप्येषामेवमहं सर्वेषामपि तापहेतुत्वमवगच्छामीति भावः। निहन्तुं निवर्त्तयितुं **कथमपि** केनापि प्रतिपक्षभावनाभ्यासाद्युपायविधानेनापि प्रकारेण **न** नैव **शक्तः** समर्थः। किमित्यत आह–**प्रेम** प्रीतिविशेषस्तेन **रक्तः** कान्तादिष्वनुरागवान्। रक्ता हि निर्गुणमपि न त्यक्तुमीशत इति भावः। तदेवं कान्तादीनां *'परिणतिविरस पनसम्'* [ ] इतिवन्निन्दायाः परित्यागे तात्पर्यमित्येतानपि परिहृत्य स्वस्य शान्तिं कुरुध्वमिति वृत्तार्थः॥ २५॥

अथ सुखहतिरिति द्वादशं द्वारं विभजन् धनादिसमस्तसांसारिक-वस्तुचञ्चलताप्रदर्शनेन संसारे सुखाभावमाह—

अर्थे निःसीम्नि पाथःप्लवजवजयिनि प्रेम्णि कान्ताकटाक्ष-
प्रक्षेपस्थेम्नि धाम्नि क्षयपवनचले स्थाम्नि विद्युद्विलोले।
जीवातौ वातवेगाहतकमलदलप्रान्तलग्नोदबिन्दु-
व्यालोले देहभाजामिह भवविपिने सौख्यवाञ्छा वृथैव॥ २६॥

व्याख्या–भवविपिने सौख्यवाञ्छा वृथैवेति सम्बन्धः। कुतो वृथा? यतस्तत्र यानि सुखसाधनानि धनादीनि तानि सर्वाण्यप्यनवस्थायीनि, ततः कारणाभावात् कार्याभाव इति सुखस्यापि निवृत्तिस्तत्र—**अर्थे** चित्ते

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तावत् **निःसीम्नि** अतिप्रचुरत्वादप्राप्तपर्यन्तेऽपि। कीदृशे इत्याह-**पाथः-प्लवो** प्रवाहस्तस्य **जवः** वेगस्तं **जयति** वेगगमनेनाभिभवति। ततोऽपि तरले इत्यर्थः। तथा **प्रेम्णि** कान्तादिविषयप्रीतौ। कीदृशे? **कान्तायाः** योषितः **कटाक्षप्रक्षेपोऽपाङ्गनिरीक्षणप्रसरणं तद्वत्स्थेम** स्थैर्यं यस्य तत्तथा तत्र। कटाक्षविक्षेपे हि स्तोकैव स्थिरता तद्वत्प्रेमण्यपि। तथा **धाम्नि** तेजसि। कीदृशे? **क्षयपवनचले** प्रलयकालप्रभञ्जनतरले, स हि कालस्वभाव्यादत्यन्ततरलो भवतीति। तथा **स्थाम्नि** शारीरे बले। कीदृशे? **विद्युद्विलोले** तडिद्विलसितं चञ्चले। तथा **जीवातौ** जीविते। कीदृशे? **वातवेगेन** वातरंहसा **आहतं** ताडितं **कमलदलप्रान्तं** पद्मपत्राग्रं तत्र **लग्नः** अनुषक्तः स चासा**वुदबिन्दुश्च** जलकणश्च तद्वद्**ध्यालोले** अत्यन्ततरले। इह च किलोदकशब्दस्य *'उदकस्योदो वा भारे हारे वै वधगाहयोः। मन्थे तथौदने सक्तुबिन्दुवज्रेष्वपि स्मृतः'* [ ] इत्यनेनोदादेशः[1]। तदेवं धनजीवितादिष्वत्यन्तास्थिरेषु सत्सु सुखं कथमवस्थितिं बन्धीयात्, इति सुखस्य घात एव। तदेवाह—**देहभाजां** प्राणिना**मिह** प्रत्यक्षोपलभ्यमान-स्वरूपे **भवविपिने** संसारारण्ये **सौख्यवाञ्छा** प्रमोदानुभवस्पृहा **वृथैव** शून्यगृहे मण्डकस्पृहेव निरर्थिकैव। परमार्थतः सर्वथैव तत्र तदभावात्। *'लक्षापरैरसंयुक्तः'* [रुद्रट काव्यालं० २। २९] इति वचनाल्ललिता नामेयं वृत्तिरिति वृत्तार्थः॥ २६॥

तदेवं संसारे सुखकारणाभावेन सुखहतिमभिधायाथ भवस्याति-रौद्रत्वेनापि तामाह—

१. ['उदकस्योदः पेषंधिवास वाहने ३/२/१०४, मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहे वा [सि.हे. ३/२। १०६]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्धावत्क्रोधगृध्रेऽधिकपरुषरवोत्तालतृष्णाशृगाली-
शालिन्युद्युन्मनोभूललितकिलकिलारावरागोग्रभूते।
ईर्ष्याऽमर्षादिदंष्ट्रोत्कटकलहमुखद्वेषवेतालरौद्रे,
हा! संसारश्मशाने भृशभयजनने न्यूषुषां क्काऽस्तु भद्रम्॥ २७॥

व्याख्या—क्रोधः रोषः स एवातिरौद्राकारधारित्वाद् **गृध्रः** पिशिताशि पक्षिविशेषः, तत**श्चोद्धावन्** प्राबल्येन प्रसर्पन् क्रोधगृध्रो यत्र। तथा पुनः कीदृशे? **अधिकम्** अतिशयेन **परुषः** कर्णकटुको **रवः** फेत्काररूपः शब्द-स्तेनो**त्ताला** उद्भटा चासौ **तृष्णाशृगाली** च विषयपिपासैव सततचित्ता-रण्यचारित्वात् फेरवा च, तया **शालते** शोभते तच्छालि, तस्मिन्। तथो**द्युन्नुल्लसन्** प्रबलीभवन् यो **मनोभूः** कामस्तस्य तेन वा यानि **ललितानि** विलसितानि सुरतकूजितादीनि तान्येवाव्यक्तध्वनिरूपत्वात् **किलकिलारावः** रौद्रध्वनिविशेषो यस्य स चासौ **रागोग्रभूतश्च**। तत्र **रागः** कामिनीविषय आत्यन्तिकः अभिलाषः स एव सुरतादावतिरौद्राकारधारि-त्वादुग्रः प्रचण्डो **भूतो** व्यन्तरविशेषो यत्र तत्तथा, तस्मिन्। तथा चोक्तं **गन्धहस्तिटीकायाम्**—

नग्नप्रेत इवाविष्टः क्वणन्तीं परिगृह्य ताम्।
खेदाऽऽयासितसर्वाङ्गसुखी स रमते किल॥ [ ] *इति*

ततो युक्तमेव रागस्य भूतेन रूपणमिति। तथा साधारणे वस्तुनि पराभिनिवेशप्रतिषेधेच्छा **ईर्ष्या**, परोपकारासहिष्णुता**ऽमर्षः**, ता**वादी** प्रथमौ येषां द्रोहा-ऽसूयादीनां त एव सद्गुणगणचर्वणदक्षत्वा**द्दंष्ट्रा** दशनविशेषा-स्ताभि**रुत्कटम्** उद्भटं **कलहमुखं** वाग्युद्धमेव वदनं यस्य स चासौ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वेषवेतालश्च, तत्र **द्वेषः** परगुणप्राणप्रहाणेच्छा, स एव भीषणाकारधारित्वाद्वेतालः प्रेतविशेषस्तेन **रौद्रः** भयङ्करस्तस्मिन्। भवति हि वेताले मुखं तत्र च दंष्ट्रा इति। तदत्रापि द्वेषे ईर्ष्यामर्षादिमान् कलहो मुखमिति। **हेति** खेदे। **संसार** एव जातिजरामृतिप्रभृतिविभीषिकाभीषणत्वात् **श्मशानं** पितृवनम्, अत एवाह **भृशभयजनने** सहृदयानामत्यर्थं त्रासोत्पादको **न्यूषुषामिति**, निपूर्वाद्वसतेः क्वंसौ द्विर्वचने संप्रसारणे च रूपमिदम्। ततश्च कृतनिवासानां प्राणिनामिति गम्यते। **क्व** देशे काले वाऽस्तु भवतु **भद्रं** कल्याणं परमं सुखमिति यावत्, न क्वापीत्यर्थः। यदा चैवमत्र निवसतां न क्वापि भद्रं तदा नूनं सुखाभाव एवेति वृत्तार्थः ॥ २७॥

अथाबलावान्तिरिति त्रयोदशं द्वारमाविष्कुर्वन्नबलाया एव त्यागोपयोगिजनदुःखोत्पादकत्वमाह—

चक्षुर्दिक्षु क्षिपन्ती क्षपयति झगिति प्रेक्षकाक्षीणि साक्षा-
ल्लीलालोलालसाङ्गी जगति वितनुतेऽनङ्गसङ्गाङ्गभङ्गान्।
खेदस्वेदप्रभेदान् प्रथयति दवथुस्तम्भसंरम्भगर्भान्
बाला व्यालावलीव भ्रमयति भुवनं चेतसा चिन्तिताऽपि॥ २८॥

व्याख्या—बाला हि दृष्टा चिन्तिता वा **चक्षुः क्षिपन्ती प्रेक्षकाक्षीणि क्षपयती**त्यादि सम्बन्धः। षोडशवर्षदेशीया योषिद्बालाऽभिधीयते। सा च सातिशयरूपविलासयौवना **चक्षुः** सानुरागं लोचनं **दिक्षु** प्रेक्षकलोकाधिष्ठितासु काष्ठासु **क्षिपन्ती** पातयन्ती। किमित्याह—**क्षपयति** सदुःखानि करोति **झगिति** शीघ्रम्। **प्रेक्षकाक्षीणि** तद्दर्शनसकौतुकलोकलोचनानि **साक्षाद्** अव्यवधानेन तदैवेत्यर्थः। तद्दृष्टौ तदप्राप्तौ च तेषां महद्दुःखं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवतीति भावः। तथा दर्शनस्पर्शनाभ्यामन्यदपि किं करोतीत्याह–**लीलया** सशृङ्गारचेष्टाविशेषेण **लोलानि** चपलानि **अलसानि** कार्यारम्भप्रवणानि **अङ्गानि** भ्रूनेत्रबाहुप्रभृतीनि यस्याः सा तथा। **जगति** दर्शकस्पर्शक-कामिजने **वितनुते** करोति। कानित्याह–**अनङ्गसङ्गेन** कामाभिष्वङ्गेणाङ्ग-**भङ्गान्**मोट्टायितादीननुभावविशेषान्। तथा **खेद** आलस्यहेतुश्रमः **स्वेदः** श्रमाम्बुरूपस्तयोः **प्रभेदां**स्तारतम्यप्रकारान्। किमित्याह–**प्रथयति** विस्तारयति। कीदृशान्? **दवथु**रुपतापः **स्तम्भो** विष्टब्धचेष्टत्वं **संरम्भः** व्याकुलता ते **गर्भे**ऽन्तर्गता येषां ते तथा तान्, सात्त्विकविकारविशेषान्। इह च **वितनुत** इत्यनुवृत्तावपि यत्क्रियान्तरोपादानं तद्विजातीयकार्यभेद-सम्बन्धोपदर्शनार्थम्। एवं तद्दृष्ट्यादिकार्यमभिधायाथ तत्स्मरणकार्यमाह–**भ्रमयति** असद्दर्शन(ना)पेक्षं करोति, **भुवनं** जगत्तत्स्मृतिपरायणं जनम्। अत एवाह–**चिन्तिताऽपि** अनुस्मृताऽप्यास्तां दृष्टेत्यपिशब्दस्यार्थः। केन चिन्तिता? **चेतसा** मनसा चिन्तनस्य चित्ताव्यभिचारेऽपि यत्तद्ग्रहणं तत् क्वचिदत्यन्तासतोऽपि दर्शनसूचनार्थम्। तथा चोच्यते—

प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा,
पर्यङ्के सा दिशि दिशि च सा तद्वियोगाकुलस्य।
हंहो चेतःप्रकृतिरपरा दृश्यते कापि सा सा,
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः॥

[ ]

अत्रोपमानमाह—**व्यालावली**व भुजगश्रेणिरिव। साऽपि चक्षुः क्रूरं क्षिपन्ती प्रेक्षकाणां लोचनानि क्षपयति। **लीलया**ऽनायासगमनेन **लोलालसाङ्गी** मन्थरचलच्छरीरापि वितनुते। किमित्याह—अङ्गसङ्ग-

१. [असद्दर्शनपक्षं? असद्दर्शनप्रेक्षं?]॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्याभावो अनङ्गसङ्गम्। तत्र **अङ्गभङ्गा** मूर्च्छादिजन्या विकारास्तान्। भुजगश्रेणिशरीरसम्बन्धमन्तरेणापि हि प्रेक्षकाणां त्रासविशेषादङ्गभङ्गा जायन्त इति भावः। खेदस्वेदौ दवथुस्तम्भसरम्भाश्च तथैवेति। भुजगश्रेण्युपमानेन च अबलायाः परमार्थतोऽत्यन्तरौद्रत्वेन भयङ्करत्वं सूचितमिति। *'निजवर्गान्त्यैर्वर्ग्याः संयुक्ता उपरि सन्ति मधुरायाम्'* [रुद्रट काव्यालं० २। २०] इति वचनादत्र मधुरा नाम वृत्तिरिति वृत्तार्थः॥ २८॥

एवं तावद् रूपवत्त्वादिगुणोपदर्शनेन चित्ताक्षेपकत्वमभिधायाथ तस्या एव वैराग्योपयोगि कालुष्यादिदोषवत्त्वमाह—

कालुष्यं कचसञ्चयाच्चपलतालीलाचलल्लोचनाद्
बिम्बोष्ठाद् गुरुरागिता कुटिलितभ्रूचक्रतो वक्रता।
नाभीतोऽपि च नीचता कुचतटात् काठिन्यमन्वर्थतो
वामानां बत तुच्छता परिचयाल्लग्नावलग्नाद् ध्रुवम्॥ २९॥

व्याख्या—वामानां कचसञ्चयात् कालुष्यं लग्नमित्यादि सम्बन्धनीयम्। कालुष्यादिशब्दाश्च प्रायः श्लिष्टाः। ततश्च **कालुष्यं** दुष्टान्तःकरणत्वं **वामानां** योषितां **कचसञ्चयात्** स्वकीयकलुषकेशपाशात् **परिचय**ादनवरतगाढसङ्गाल्लग्नम्, **ध्रुव**मित्युत्प्रेक्षार्थम्। केशेषु तु कालुष्यं कृष्णत्वमेव। तथा **चपलता** चञ्चलचित्तता साऽपि **लीलया** हेलया **चलद्** भ्राम्यद्यल्लोचनं नेत्रं ततः पञ्चमी सर्वत्र भिन्नाधिकरणा द्रष्टव्या। परिचयाल्लग्नेति सम्बन्धः। एतच्च पदद्वयं सर्वत्र सम्बन्धनीयम्। तथा **गुरुरागिता** प्रबलानुरागयुक्तचित्तता। कुत इत्याह—बिम्ब्या रक्तफलायाः फलं **बिम्बं** तदाकार **ओष्ठः** अधरस्ततः। अनुरागस्य गुणत्वेऽपि विवेकिनां हेयत्वेनेह दोषरूपत्वमवसेयम्। तथा **कुटिलितं** वक्रतां प्राप्तं यद् **भ्रूचक्रं** नयनोपरिवर्त्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुटिलरोमरेखारूपम्। ततः केत्याह-**वक्रता** मायैकनिष्ठमानसता। तथा **नाभीतः** उदरकूपिकायाः सकाशाद् **नीचता** पृथग्जनरूपता, तादृग्जनानुरागिता वा। **अपि चे**ति समुच्चये। तथा **कुचतटा**न्निबिडबन्धस्तनच्छलात् **काठिन्यम्** अनार्द्रहृदयत्वम्, निरुपरोधशीलतेति यावत्। तथा **तुच्छता** स्वल्पसुखदुःखहेतावपि सातिशयप्रमोदविषादिता। कुत इत्याह-**अवलग्नात्** कृशतरमध्यप्रदेशात्। सर्वं चैतत् कालुष्यचपलतादिक-**मन्वर्थतो वामानां लग्नम्।** तत्रानुगतः सम्बद्धोऽर्थः कलुषभावादिलक्षणस्तस्मात्। अयमभिप्रायः, कालुष्यादिकं हि केशादिषु तावत् पारमार्थिकमेवान्वर्थवशात्तद्योषित्स्वपि, ततश्च केशादिपरिचयात्तत्तत्र लग्नमित्युत्प्रेक्षितम्। वामानामित्यस्यन्वर्थतो विपर्यस्तबुद्धीनामत एव तत्तत्कालुष्यादिग्रहणोचितत्वं तासामिति। योषितामेकरूपाणामपि तत्तत्संज्ञाभावनावशाद्भोगवैराग्यहेतुत्वम्। तथाहि—तासु तिस्रः संज्ञास्तत्र निमित्तसंज्ञा तावद्दन्तौष्ठमित्यादिका दन्तौष्ठत्वादिनिमित्ता। अनुव्यञ्जनसंज्ञा तु दन्तरत्नं मुखवानलं चन्द्रमुखीत्यादिका। अशुभसंज्ञा तु अस्थिमांसमित्यादिका। तदत्र प्रथमवृत्ते **चक्षुः दिक्षिव**त्यादौ तावन्निमित्तसंज्ञा, द्वितीये **कालुष्यं कचे**त्यादौ तत्त्ववृत्त्याऽशुभसंज्ञाभावनम्। तथा चोक्तमुदयनेन **न्यायतात्पर्यपरिशुद्धौ** *[पृ० २४७] दन्तौष्ठमित्यनुरागः। अस्थिमांसमिति वैराग्यं श्यामेति हर्षः।* पाकजमिदं *मांसपार्थिवरूपमिति माध्यस्थम्। मुखामोद इत्यामोदः। औपाधिकोऽयमस्य, सहजस्तु पूतिरिति वैमुख्यम्। अहो मधुरमेतन्मुखावर्जितं ताम्बूलमिति प्रवृत्तिः। उच्छिष्टमिदमिति निवृत्तिः। प्रेयसीस्पर्श इत्युत्सवः। पार्थिवद्रव्यमात्रस्पर्श इति न किञ्चित्। बहुकेशीत्यनुरागः। मज्जधातुमला इमे बहवः श्मशानतराविव संसक्ता इत्युद्वेगः। पीनस्तनीत्यानन्दः। स्फिक्निर्विशेषौ पललपिण्डावित्यलं प्रत्ययः। मृतशरीरादचेतनात्*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पृथगियमिति हर्षः। चेतनादात्मनः पृथगियं चेतनादपृथग्भावस्तु भ्रान्त इत्यरतिः। दिव्यमाल्याभरणवसनवतीति प्रीतिः। पार्थिवं पार्थिवेन संसक्तमिति विरतिः। हसतीति हर्षः। अस्थिमांसविभाग इति विषादः। मम प्रिया परापरा वेति हर्षविषादौ। शरीरापेक्षया परापरभावो न मदपेक्षयेति न किञ्चित्। नृत्यमिति रतिः। सप्रत्ययासत्प्रत्ययकर्मसन्तानो नार्या शरीर इवेति विरतिः। तस्य जातीया स्त्रीति चोत्साहः। त्वङ्मांस-शोणितस्नाय्वस्थिमज्जशुक्रमूत्रपुरीषसमुदायोऽयं चाण्डालीसाधारण इत्यलं प्रत्ययः। वक्रभ्रूरोमराजीगभीरनाभिरुन्नतपयोधरा पृथुनितम्बा कृशमध्येति स्नेहः। अन्नपानादिपरिणतिरियं मेदोमांसाद्युपचयापचयसंस्थानभेदवती अचिरस्थायिनीति निर्वेदः। इति निमित्तसंज्ञया सहाशुभसंज्ञा, एवमनुव्यंजन-संज्ञयाऽपि सह द्रष्टव्या [१।१।१४] इति। तदेवमशुभसंज्ञाभावनमेवात्र निर्वेदोपयोगि तत एव चाबलावान्तिरिति। तदुक्तं **श्रीहरिभद्रसूरिभिः श्रावकप्रज्ञप्तिटीकायाम्**—

अनिशमशुभसंज्ञाभावनासन्नहत्या, कुरुत कुशलपक्षप्राणरक्षां नयज्ञाः।[1]
हृदयमितरथा हि स्त्रीकटाक्षाभिधाना, मदनशबरबाणश्रेणयः काणयन्ति॥

[श्रावकप्र० २७४]

तथा–

का श्रीः? श्रोण्यामजस्रं स्रवदुदरदरीपूतिसान्द्रद्रवायाम्,
का शोभा? भूरिमांसोद्भवगडुकनिपातोन्मुखेषु स्तनेषु।

१. उक्तं च–'अनिश·····यन्ति।' [श्रावकप्र० टीका २७४]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का वा लीला? सुलीलाचलितजललवा लोलकेशीक्षणेषु,
स्त्रीणां किं वास्ति रम्यं वदत बुधजना यत्र सक्तिं विदध्मः।
[ ]

तस्मात्तासां वान्तिः परित्याग एवोचित इति वृत्तार्थः॥ २९॥

अथाभ्रान्तिराप्त इति चतुर्दशं द्वारं व्यक्तीकुर्वन्नाप्तहेतुं रागादिदोषसमूहाभावमुपदर्शयन्नाप्तवचने संदेहाभावमाह—

रागद्वेषप्रमादारतिरतिभयशुग्जन्मचिन्ताजुगुप्सा-
मिथ्यात्वाज्ञानहास्याविरतिमदननिद्राविषादान्तरायाः
संसारावर्त्तगर्त्तव्यतिकरजनका देहिनां यस्य नैते,
दोषा अष्टादशाप्तः स इह तदुदिते क्वास्तु शङ्कावकाशः॥ ३०॥

व्याख्या—यस्यैतेऽष्टादश दोषा न सन्ति स एवाप्तस्तानेवाह—**रागः** रमणीयवस्त्वभिष्वङ्गलक्षणः, **द्वेषः** परगुणप्राणप्रहाणेच्छा, **प्रमादः** शक्तस्य कर्त्तव्याकरणम्, विषयकषायाद्यनुषङ्गो वा, अमनोज्ञोपाश्रयादौ त्वरितत्यागेच्छाऽरतिः, मनोज्ञे तु तत्रैव सततावस्थानेच्छा **रतिः**, अनिष्टहेतूपनिपाते तत्परित्यागानर्हणज्ञानं **भयम्**, इष्टवियोगे तल्लाभानर्हणज्ञानं **शुक्** शोकः, निकायविशिष्टाभिरपूर्वाभिः शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिरभिसम्बन्धो **जन्म**, दृष्टस्मृतानुभूतविषयानुध्यानं **चिन्ता**, छर्दितविष्टाद्यशुभतरविषयदर्शनगन्धघ्राणादेर्मुखनासिकाद्याकुञ्चनव्यङ्ग्याऽऽत्यन्तिकी घृणा **जुगुप्सा**, अदेवादिषु देवादिविपर्यस्तावगमो **मिथ्यात्वम्**, स्पष्टतरेऽपि विषये विषये विशिष्टज्ञानाभावोऽज्ञानम्, विकृतवेषवचनदर्शनश्रवणादिसमुद्भवो नयनकपोलविकाशाद्यभिव्यङ्ग्यो हर्षविशेषो **हास्यम्**, प्राणातिपाताद्या-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्ववेभ्यः सर्वथाप्यनिवृत्तिरविरतिः, कामिन्यादिकमनीयविषयदर्शन-स्मरणादिना तत्परिभोगेच्छा **मदनः**, समस्तेन्द्रियव्यापारोपरमे निरुद्ध-विशिष्टचेष्टस्य चैतन्याभावो **निद्रा**, क्वचिद् दृढतरारम्भस्यातिनिष्फल-त्वेऽत्यन्ताभीष्टवस्तुदाने वा पश्चात्तापो **विषादः**, अन्तरादातृप्रतिग्रहीत्रोरयते दानादिभङ्गायेत्यन्तरायो विघ्नः। इत्यष्टादश **दोषाः संसारः** चातुर्गतिको भवः स एव परिभ्रमणसाम्यादावर्त्तप्रधानो **गर्तः** भूमिस्वभ्रविशेषस्तेन सह **व्यतिकरः** सम्बन्धस्तस्य **जनकाः** उत्पादकाः। केषामित्याह-**देहिनां** प्राणिनाम्। एते हि प्रायो घातिकर्मप्रकृतित्वाद् दृढतरकर्मनिबन्धनमित्येतदभावः प्रत्यपादि सर्वज्ञे। स्थानान्तरे तु *'अन्नाणकोहमयमाण'* इत्यादौ *'पंचंतराय हासाइछक्के'* त्यादौ, *'अंतराया दाने'* त्यादि च नाममालायां च क्वचित् क्वचिद्भेदोऽप्यस्ति। तथाऽपि गाढतरदोषत्वसामान्यादेवमप्यभिधीयते, न कश्चिद्दोषः। ततश्च **यस्य** भगवत **एते** रागादयो **दोषाः** दूषणानि **अष्टादशे**त्येतत्संख्या **न** नैव सन्ति स एव**आप्तः**। आप्तिर्हि दोषक्षयस्तया वर्त्तत इत्याप्तः। तथा च **तदुदिते** तत्प्रतिपादिते प्रवचने **क्व** देशे काले वा **शङ्का** संदेहो भ्रमो वा तस्य **अवकाशः** प्रसरोऽस्तु भवतु, न क्वापीत्यर्थः। तदुक्तम्—

आगमो ह्याप्तवचनमाप्तिं दोषक्षयं विदुः।
वीतरागोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात्॥
रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतभाषणं किं स्यात्॥

[ ]

तथा च तत्र सकलदोषविकले कथं देवत्वभ्रान्तिः, न कथञ्चिदिति वृत्तार्थः॥ ३०॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं दोषाभावेन तत्स्वरूपमभिधाय च गुणसद्भावेनापि तदनुप्रासालङ्कारविशेषेणाह—

विद्वत्प्रेयसि सद्गरीयसि परानन्दाश्रयस्थेयसि,
स्फीतश्रेयसि नाशितैनसि सदा सम्यग्गुणज्यायसि।
सज्ज्ञानौकसि धर्मवेधसि हुताविद्यावितानैधसि,
कोऽनन्तौजसि तारतेजसि जिने संदेग्धि वृन्दीयसि॥ ३१॥

व्याख्या—ईदृशेऽपि **जिने कः संदेग्धी**ति सम्बन्धः। कीदृशे? **अविद्याः** असम्यग्ज्ञानरूपाः संशयविपर्ययानध्यवसायादयस्तासां **वितानः** समूहः स एवासाररूपत्वा**देध** इन्धनं ततो **हुतं** भस्मसात्कृतमविद्यावितानैधो येन स तथा तत्र। एतदपि कुत इत्यत आह—**नाशितम्** अन्तं नीत**मेनः** पापं येन स तथा तत्र। पापाभावे हि क्वाविद्यासद्भाव इति भावः। अत एव **सज्ज्ञानं** समस्ता विद्या हेत्वावरणाभावाच्छोभनोऽवबोधः केवलरूपस्तस्यौकः गृहं तत्र। तथा **सदा** सर्वदा **सम्यग्गुणै**स्तात्त्विकधर्मैः सद्दर्शनादिभि**र्ज्यायसि** प्रशस्ये बृहत्तरे वा। ततश्च **परः** प्रकृष्ट **आनन्दः** सुखविशेषस्तस्या**श्रयः** आवासो मोक्षलक्षणस्तत्र **स्थेयान्** स्थिरतरस्तत्र, यः केवलज्ञानाद्यनन्तरं मोक्षं प्राप्त इति भावः। तत्र च **स्फीतम्** अत्यन्तवृद्धं **श्रेयः** कल्याणमनन्तपञ्चकरूपं यस्य स तथा तत्र। तथा **विदुषां** सम्यग्दृष्टित्वेन तात्त्विकपण्डितानां **प्रेयसि** प्रियतमे। तथा **सतां** सज्जनानां **गरीयसि** गुरुतरे, सर्वतोऽप्यभ्यधिकगुणत्वादिति भावः। तथा **धर्मस्य** श्रुतचारित्रादिरूपस्यापि **वेधसि** स्रष्टरि, आदौ तेन तस्योपदेशात्। तथा **अनन्त**मपर्यन्त**मोजो** वीर्यान्तरायक्षयाद्वीर्यं यस्य स तथा तत्र। तथा **तारतेजसि** दीप्रप्रभावे। तथा **वृन्दीयसि** वृन्दारकेऽर्थात् सद्गुणानां जनानाम्। वृन्दारक-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शब्दस्य स्वभावादेव सम्बन्धिवचनत्वादेवं व्याख्याने सम्बन्धियोजना। **जिने** तीर्थकरे देवे, **कः** सचेतनः **संदेग्धि** अदेवत्वेन संशेते, न कोऽपीत्यर्थः। अयमभिप्रायः यो ह्यष्टादशदोषविप्रकृष्टः समस्तपापनाशनेन प्राप्तकेवलज्ञाननिर्वाणः सोऽपि यदि देवो न भवेत्तदा कोऽन्यो देव इति, सर्वथाप्यभ्रान्तिरेवास्त इति वृत्तार्थः॥ ३१॥

अथ श्रुते ज्ञीप्सेति पञ्चदशं द्वारं विवृण्वन् श्रुतस्यैव तीव्रतरदोष-ध्वंसकत्वं रूपकालङ्कारेण वृत्तद्वयेनाह—

उद्यद्दारिद्र्यरुन्द्रद्रुमशितपरशुर्दुर्गदुर्गत्युदार-
द्वारस्फारापिधानं विषयविषधरग्रासगृध्यत्खगेन्द्रः।
क्रुध्यद्दुर्बोधयोधप्रतिभटपटली मोहरोहत्प्ररोह-
प्रेङ्खत्तीक्ष्णक्षुरप्रः प्रमदमदकरिक्रूरकुप्यन्मृगारिः॥ ३२॥
सर्पत्कन्दर्पपांशुप्रकरखरमरुत्तुङ्गदुत्तुङ्गदम्भ-
क्ष्माभृद्दम्भोलिरुच्चैरनुपशमदवोद्दामवर्षाम्बुवाहः।
मिथ्यात्वापथ्यतथ्यस्फुरदमृतरसः प्रोल्लसल्लोभवल्लि-
च्छेदच्छेकासिपत्रं श्रुतमिह तदिति ज्ञाप्यमध्याप्यमाप्य॥ ३३॥

व्याख्या—श्रुतमाप्य ज्ञाप्यमध्याप्यमिति सम्बन्धः। कीदृशम्? **उद्यद्**उल्लसदतितीव्रं यद् **दारिद्र्यं** दौर्गत्यं तदेवानेकावज्ञाभिभवादिशाखाकुलत्वाद्रुन्द्रः विस्तीर्णो न्यग्रोधादिप्रख्यो **द्रुमः** वृक्षस्तत्र **शितपरशुस्**तीक्ष्णः कुठारः सर्वथा तदुच्छेदकत्वात्। तथा **दुर्गात्** क्लेशताकुलत्वेन विषमा **दुर्गति**-र्नरकादिका तस्या **उदारं** पृथुलं यद् **द्वारम्** आस्रवादिरूपः प्रवेशमार्गस्तस्य **स्फारम्** अतिविस्तीर्ण**मपिधानं** स्थगनम्। श्रुतश्रवणेन हि सर्वथा आस्रव-निरोधात् पिधीयत एव दुर्गतिद्वारम्। तथा **विषयाः** शब्दादयस्त एव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवेकिनां भयकरत्वाद्विषधराः सर्पास्तेषां **ग्रासः** अन्तनयनं तत्र **गृध्यन्नत्यन्ताभिलाषुकः खगेन्द्रः** गरुडस्तद्विषयनिर्वेदोत्पादकत्वेन सर्वथा तत्परिहारकत्वात्। तथा **दुर्बोधो** मिथ्यारूपो दुष्टोऽवगमः स एव सज्ज्ञानप्रहतिमहापराक्रमवत्त्वाद्योधः सुभटः ततश्च **क्रुध्यं**श्चासौ दुर्बोधयोधश्च तत्र, **प्रतिभटपटली** सपराक्रमप्रतिपक्षवीरसंहतिर्यथा तया क्रुध्यन् योधो निराक्रियते तथा श्रुतेन दुर्बोध इति। अत्र क्रोधस्य योधमात्रविशेषणत्वेऽपि दुर्बोधस्य तेन रूपणात्तद्विशेषणत्वेऽपि न दोषः। तथा इतिकर्त्तव्यतायामनालोचो **मोहः** अज्ञानं वा मूर्च्छा वा स एव **रोहन्** जायमानः **प्ररोहः** अङ्कुरस्तत्र **प्रेङ्खन्** लावककरे वल्गंस्तीक्ष्णक्षुरुप्रः निशितायुधविशेषस्तद्वच्छ्रुतस्य मोहमूलोच्छेदकत्वात्। तथा **मदः** आनन्दसम्मोहभेदो जातिकुलाद्युत्कर्षाभिमानो वाष्टप्रकारः स एवोद्धतत्वदुर्निवारत्वादिसाधर्म्यात् **करी** हस्ती ततश्च **प्रमदो** मदकलः स चासौ मदकरी चेति। अत्रापि प्रमदेति विशेषणसम्बन्धः पूर्ववत्। तत्र **क्रूरः** अत्यन्तदुष्टाध्यवसायः, सोऽपि कदाचिदुपशान्तावस्थो न हन्यादत उक्तम् **कुप्यन्** हस्तिहननं प्रत्यमर्षवान् **मृगारिः** सिंहः, यथासौ करिणं निकृन्तति तथा श्रुतमपि मदम्, तच्छ्रवणाद्विवेकिनामपयात्येव मद इति॥ ३२॥

तथा **कन्दर्पः** काम स एव संकल्पमात्रयोनित्वेनासारत्वात् **पांशुप्रकरो** रेणूत्करस्ततश्च **सर्पन्** ससुरासुरे जगति प्रसरन्, स चासौ कन्दर्पपांशुप्रकरश्च तत्र **खरमरुत्** प्रबलतरः प्रभञ्जनः। यथा तेन पांशुपुञ्जः सर्वथा विक्षिप्यते तथा श्रुतेन कन्दर्पोऽपि। तथा **तुङ्गन्** उल्लसन्नुत्तुङ्गोऽत्युन्नतो **दम्भः** निकृतिविशेषः *'शाठ्येन धर्माचरणं दम्भः'* [ ] इति वचनात्। स एव नाना कूटोत्कटत्वसाधर्म्यात् **क्ष्माभृत्** पर्वतस्तत्र **दम्भोलिः** वज्रम्,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्वथा तच्चूर्णकत्वात्। **उच्चैः** अतिशयेन, तथाऽनुपशमः क्रोधोद्भवः स एवात्यन्तसन्तापकत्वाद्दवः अरण्यानलस्तत्र **उद्दाम** उद्भटो **वर्षाम्बुवाहः** प्रावृट्कालमेघः। '**दवोद्दाह**' इति पाठे तु दवस्य उद्दाहः प्रबलतापः तत्र वर्षाम्बुवाहः इति। कालान्तरे ह्यल्पत्वान्न तथा तादृग्दाहोपशमकोऽम्बुवाहोऽपि स्यादिति वर्षाग्रहणम्। तथा **मिथ्यात्वं** विपर्यस्तज्ञानं **तदेवापथ्यम्** अजीर्णातिरेककारि विषरूपम्। तत्र **तथ्यः** सत्योऽकृत्रिमरूपः **स्फुरन्** उल्लसन्नमृतरसः पीयूषनिर्यासः, यथा हि तेन विषं सर्वथाऽपास्यते तथा श्रुतार्थेन मिथ्यात्वमिति। तथा **लोभ** एव सातिशयप्रसरणधर्मकत्वसाधर्म्याद्वल्लिः वल्लरी ततश्च **प्रोल्लसन्ती** प्रवर्द्धमाना, सा चासौ लोभवल्लिश्च तस्याश्छेदः कर्त्तनं तत्र **छेकं** प्रधान**मसिपत्रं** खड्गदलम्, यथा खड्गेन वल्लिः सर्वथा छिद्यते तथा श्रुतार्थपरिणमनेन लोभ इति। विचित्रत्वाच्च सूत्रकृदभिसन्धेरत्र छेदः समानो धर्मः साक्षादेवोपात्तः। किं तदेवंविधमित्याह-**श्रुतं** सिद्धान्तोऽङ्गोपाङ्गादिरूप**मिह** जगति। **इति**शब्दो हेत्वर्थस्तेन यत एवंरूपमिदं श्रुतं तस्माद् **आप्य** शुभगुरोः शुभोदयवशात् प्राप्य सम्यक् सूत्रतोऽर्थतश्चावगाह्य। किमित्याह-**अध्याप्यं** परेभ्यः सूत्रतो देयम्, तथा **ज्ञाप्यम्** अर्थतोऽपि ज्ञापनीयम्। एतदेव प्राप्तस्य श्रुतस्य फलं तदन्तरेण तु काशकुसुममिवैतन्निःफलमेवात्माध्ययनमात्रस्यात्मंभरित्वाभिव्यञ्जकत्वादिति भाव इति वृत्तार्थः॥ ३३॥

अथ धने दित्सेति षोडशं द्वारं स्पष्टीकुर्वन् विधिदानफलमेवाह—

तेने तेन सुधांशुधामधवलं विष्वक् स्वकीयं यशो
दौर्भाग्यद्रुरभाजि तेन ममृदे दारिद्रमुद्रा द्रुतम्।
चक्रे केशवशक्रचक्रिकमला तूर्णं स्वहस्तोदरे
पात्रत्राकृतमत्र येन विधिना स्वं स्वं नयोपार्जितम्॥ ३४॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याख्या–येन नयोपार्जितं स्वं पात्रत्राकृतं तेन तेने इत्यादि सम्बन्धः। अत्र जगति **येन** केनापि सुकृतकर्मणा **स्वम्** आत्मीयं **स्वं** द्रव्यम्, कीदृशम्? **नयोपार्जितं** द्यूतोत्कोचापरवञ्चनद्रोहादिपरिहारेण शिष्टजनोचितवाणिज्यादिरूपन्यायेनोपात्तं विढपितं सत्, किमित्याह—पात्रायत्तं करोतीत्यर्थे त्राप्रत्यये कृते **पात्रत्राकृत**मिति रूपम्, ततः पात्राय वितीर्णमित्यर्थः। **पात्रं** च ज्ञानक्रियादिगुणगणालंकृतः साध्वादिस्तथा चोक्तम्—

इंदिय-कसाय-गारव-निम्महणो छिन्नबंधणो धणियं।
पंचमहव्वयजुत्तो नाणाइजुओ मुणी पत्तं॥

[ ]

तदप्युत्तम-मध्यम-जघन्यभेदात् त्रिधा। तत्रोत्तमं तावत्तीर्थकृत्, मध्यमं सुविहितसंतानः, जघन्यं साधर्मिकवर्गः, क्रमेण ज्ञानादिवृद्धत्वात्। कथं वितीर्णमित्याह–**विधिना** सिद्धान्तोक्तप्रकारेण। दातृ-ग्रहीतृ-देयविशुद्ध्यादिरूपेण। तथा चोच्यते—

पात्रमुत्तमगुणैरलङ्कृतं दायकोऽपि पुलकं दधत्तनौ।
देयवस्तु परिशुद्धपुष्कलं निष्कलङ्कतपसामिदं फलम्॥

[ ]

तत्रापि सत्कारपूर्वकम्, सत्कारश्च षड्विधः। तदुक्तम्—

अभिमुहगमणं आसण-वंदण-मह संविभागदाणं च।
पुणरवि वंदण-मणुवयण सक्कारो छव्विहो एसो॥

[ ]

ततश्च येन स्वकीयं द्रव्यं पात्राय ददे **तेन** किमित्याह-**तेने** विस्तारयामासे, किमित्याह-**यशः** सम्यगुदारता, पराक्रमकृता ख्यातिः। कीदृशम्? **स्वकीयम्**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आत्मीयं तदपि **सुधांशोः** चन्द्रमसो **धाम** तेजःकिरणलक्षणं तद्वद्धवलं विशदम्, निष्कलङ्कत्वात् कविमार्गे हि यशः श्वेतं वर्ण्यते। **विष्वक्** सर्वतस्त्रैलोक्येऽपीत्यर्थः। अत एव भगवतां प्रथमपारणकादौ दातुर्जय-जयशब्दः सुरासुरैरुद्घुष्यते। तथा **दौर्भाग्यं** विरूपतादिकृतानादेयता, तदेवावज्ञा-ऽभिभवादिशाखाकत्वाद् **द्रुः** वृक्षः, सोऽपि प्रभावातिशयात्तेन दात्रा **भाजि** भग्नः। उभयोरपि भवयोः सौभाग्यस्यैवोद्भवात्। तथा **ममृदे** मर्दिता चूर्णिता **दारिद्र्यस्य** दौर्गत्यस्य **मुद्रा** राजादेरिव मृन्मयाज्ञाविशेषः **द्रुतं** शीघ्रम्। तथा **चक्रे** विदधे। केत्याह-**केशवाः** अर्द्धचक्रिणः **शक्राः** देवेन्द्राश्**चक्रिणः** षट्खण्डभारतादिस्वामिनस्तेषां **कमला** लक्ष्मीः सातिशय-रूपपरिवारादिरूपा **तूर्णं** त्वरितम्। केत्याह-**स्वहस्तोदरे** आत्मीयकर-कमलगर्भे। दानमाहात्म्याद्धि सर्वमेतच्छ्रेयोभूतं सम्पद्यत इति वृत्तार्थः॥ ३५॥

तथा—

प्रोल्लेसे गुणवल्लिभिः प्रननृते कीर्त्त्या त्रिलोकाङ्गणे
सौख्यैरुच्चकृषे श्रिया प्रववृधे बुद्ध्या जजृम्भे भृशम्।
स्वर्लक्ष्म्या ददृशे सतर्षमभितो वीक्षाम्बुभूवे शिव-
प्रेयस्या विधिदानदातुरसकृत्कैर्वा न लिल्ये शुभैः॥ ३५॥

व्याख्या-विधिदानदातुः प्रोल्लेसे गुणवल्लिभिरित्यादि सम्बन्धः। **प्रोल्लेसे** प्रकर्षेणोज्जजृम्भे। सर्वत्राप्यत्र भावे क्रियाप्रयोगः। काभिरित्याह-**गुणाः** क्षमा-दयौदार्यादयस्त एव प्रवर्द्धनसाधर्म्याद्वल्लयो लतास्ताभिः। पूर्वं सन्तोऽप्येते गुणा दातुर्विधिदानप्रभावाद्विशेषेण वर्द्धन्त इति भावः। तथा **प्रननृते** प्रकर्षेण लास्यं चक्रे। कयेत्याह—**कीर्त्त्या** दानपुण्योपार्जितया

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ख्यात्या। अत एव पूर्ववृत्तोपात्तयशसा न पौनरुक्त्यम्। क्वेत्याह– **त्रिलोकाङ्गणे** जगत्त्रयाजिरे। तथा **सौख्यैः** आनन्दैरुच्चकृषे, यत्र यत्र राज्यादिलाभे यानि यानि सुखानि तानि तानि सर्वत्र पूर्वेभ्य उत्कृष्टतराणि भवन्तीति भावः। एवं **श्रियापि** राज्यादिलक्ष्म्यापि **प्रववृधे** पूर्वस्या अधिकतरं वृद्धिं गतम्। **बुद्ध्या** वाचस्पतेरप्यभिभाविकया मत्या **जजृम्भे** विचकसे, पूर्वतः सातिशयया बभूवे इति भावः। अत एवाह–**भृशम्** अत्यर्थम्। एवमैहिकं गुणवर्द्धनादिफलमभिधायाथ पारभविकमप्याह– **स्वर्लक्ष्म्या** विशिष्टरूपरत्नादिदेव्यादिसमृद्ध्या **ददृशे** दृष्टम्। विधिदान-दातुरिति सर्वत्र योज्यम्। कथमित्याह–**सतर्षं** सस्पृहं सङ्गमाभिलाषेण, न तु शत्रुप्रभृतिवद् द्वेषानुबन्धेनेत्यर्थः। तथा **अभितः** सर्वतोऽत्यन्तादरेण। किमित्याह–**वीक्षाम्बुभूवे** आलुलोके। कयेत्याह–**शिवः** मोक्षः स एव सततमानन्दातिशयाधायकत्वसाधर्म्यात् **प्रेयसी** प्रियतमा तया। यथा काचिदत्यन्तानुरक्ता विदग्धविलासिनी हृदयेप्सितकान्तं कामयमाना सर्वतोऽप्यवलोकते तथा दातुर्मुक्तिकान्तेति भावः। कस्यैतदेवमित्याह– **विधिना** पूर्वोक्तेन दायकशुद्ध्यादिना **दानदातुः** स्वद्रव्यव्ययकारिणः। कियद्वा तत्फलं वर्ण्यत इत्याह–**कैर्वा** अनिर्दिष्टस्वरूपैः प्रभूतैर्वा **न लिल्ये** न लीनं **शुभैः** कल्याणैः समृद्ध्यादिभिरपि तु सर्वैरपि। तदेवमैहिकपार-भविकसुखशतनिदाने दाने सादरं प्रवर्त्तितव्यमित्युपदेश इति वृत्तार्थः॥ ३५॥

अथ विनये विधित्सेति सप्तदशं द्वारं विस्पष्टयन्नन्वयव्य-तिरेकाभ्यामाख्यायमानोऽर्थः सुगमो भवतीत्यभिप्रायवान् व्यतिरेकद्वारेण विनयाभाववतो दोषोपदर्शनं कुर्वन् विनयप्रवृत्त्युपदेशमाह—

प्राहुर्दाहकमेव पावकमिव प्रायोऽविनीतं जनं
प्राप्नोत्येष कदाचनापि न खलु स्वेष्टार्थसिद्धिं क्वचित्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्मादीहितदानकल्पविटपिन्युल्लासि निःश्रेयस-
श्रीसम्बन्धविधानधाम्नि विनये यत्नं विदध्याद् बुधः ॥ ३६ ॥

व्याख्या—प्राहुः प्रकर्षेण ब्रुवतेऽर्थात् पूर्वाचार्या इति गम्यते। कमित्याह-**जनं** लोकम्। कीदृशम्? **अविनीतं** गुर्वादिष्वप्यासनदानादिप्रतिपत्तिवर्जितम्। कीदृशं प्राहुः? **दाहकमेव** अवश्यमन्तस्तापजनकमेव, सर्वस्यापीत्युत्सर्गः। पावकमिवेत्युपमानं ज्वलनवदित्यर्थः। किं सर्वथाप्येवमेवैत्? नेत्याह-**प्रायो** बाहुल्येन **क्वचित्** कदाचित् कस्यचिदनाभोगतोऽविनीतत्वेऽपि गुर्वादेर्वात्यन्तप्रशान्तत्वेन दाहकत्वाभावात्। **न खल्विति** भिन्नक्रमेणैव **प्राप्नोति** लभते **एष** दुर्विनीतः। कामित्याह-**स्वस्यात्मन इष्टः** अभिमतोऽर्थः प्रयोजनं द्रव्यलाभः शास्त्रलाभो वा तस्य **सिद्धिं** प्राप्तिम्। **क्वचिदिति** देशे काले वा, नासौ देशः कालो वास्ति यत्र दुर्विनीत-स्येष्टार्थसिद्धिरिति। तदुक्तम्—

अविणीयजणो न कया वि इट्ठसिद्धिं कहिं पि पाउणइ।
सग्गापवग्गसंसग्ग-सुक्खरहिओ भवे भमइ॥

[ ]

तदेवं विनयस्य व्यतिरेकतः फलमभिधायाथ तस्यैवान्वयतः फलमाह-यतो दुर्विनीतस्येयं गतिस्तस्माद्धेतोः **विनये** आराधनीयविषयप्रतिपत्ति-विशेषविधानरूपे **विदध्यात्** कुर्याद् **बुधः** पारमार्थिकविवेकी। कीदृशे? **ईहितं** वाञ्छितम्, इहलोके तावल्लक्ष्म्यादिकं तस्य **दानं** वितरणं तत्र **कल्पविटपिनि** कल्पितार्थप्रदतरुविशेषे तथा जन्मान्तरेऽपि परम्परया **उल्लासिनी** सर्वावरणविशेषप्रक्षयेणादित्यप्रभैव प्रोज्जृम्भमाणा सा चासौ **निःश्रेयसश्रीश्च** मोक्षलक्ष्मीश्च तया **सम्बन्धः** सङ्गमस्तस्य **विधानं** करणं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तस्य **धाम** गृहं तत्र। यथा कस्याश्चिद्विदग्धवनितायाः केनचित् सुकृतिना सह क्वचिद् गृहे संकेतेन सङ्गमो भवति तथा भव्यस्याप्यत्र विनये व्यवस्थितस्य सतो निःश्रेयसश्रीसंगमो भवतीति वृत्तार्थः॥ ३६॥

तथा—

मूलं धर्मद्रुमस्य द्युपतिनरपतिश्रीलताकल्पकन्दः
सौन्दर्याह्वानविद्या निखिलसुखनिधिर्वश्यता योगचूर्णः।
सिद्धाज्ञाऽमन्त्रयन्त्राऽधिगममणिमहारोहणाद्रिः समस्ता-
नर्थप्रत्यर्थि तन्त्रं त्रिजगति विनयः किं न किं साधु धत्ते॥ ३७॥

व्याख्या—**मूलम**ादिकारणं कस्येत्याह—**धर्मः** श्रुतचारित्ररूपः स एव नानाऽवान्तरभेदशाखादिमत्त्वाद् **द्रुमः** तरुस्तस्य। तथाहि—आदावेव धर्माधिकारिणि पुरुषेऽर्थिसमर्थसूत्राप्रतिक्रुष्टरूपेऽर्थिनो लक्षणमुक्तम्। '*अत्थी उ जो विणीओ* [ ] त्ति। तथोपदेशमालायामभ्यधायि–'*विणओ सासणे मूलं* [उप०] इति। तथा **द्युपतयः** स्वर्गनायका **नरपतयः** राजानस्तेषां **श्रीः** लक्ष्मीः सैव वर्द्धमानधर्मकत्वाल्लता शाखा तस्या आरोहे **कल्पकन्दः** कल्पितार्थप्रदतरुविशेषाद्यकारणभेदः, इतो हि क्रमेण प्राप्तधर्मः स्वर्गनायकादिलक्ष्मीः प्राप्नोतीति भावः। तथा **सौन्दर्यं** रूपातिशयत्वे सति नयनलेह्यन्वयलक्षणं लावण्यम्, तस्याह्वानाय आकर्षणाय **विद्या** संसाधनमन्त्रविशेषः। यथा आकर्षणविद्यया दूरतो वनितादिकमाकृष्यते तथा विनयेनापि सौन्दर्यमिति भावः। **निखिलसुखानां** मर्त्याऽमर्त्यशिवप्रमोदानां **निधिः** स्वर्णरत्नादिपूर्णः कलशः। यथा तत्र रत्नकनकादिकमनायासेनैव प्राप्यते तथा विनये समस्तमपि सुखमिति भावः। तथा **वश्यता** परेषां वशीकारस्तन्मानसावर्जनम्। तत्र **योगा** वशीकारकपदार्थानां मेलकस्तस्य **चूर्णः** क्षोदः।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यथा योगचूर्णेन राजादिः केनापि वशीक्रियते तथाऽनेन त्रिभुवनमपीति भावः। तथाऽयं **सिद्धा** पठितमात्रसिद्धा, न तु जाप-होमादिसाध्या, **आज्ञा** दोषनिवारक आदेशः, विषविकार-दोषनिवारकगारुडमन्त्रविशेषवत्। अत एवाह कीदृशी?-**मन्त्रः** प्रणवादिः स्वाहापर्यन्तो वर्णसमूहः, **यन्त्रः** षट्कोणाष्टकोणादिरेखाविशेषविन्यासः, ततश्च न विद्येते मन्त्रयन्त्रौ यस्यां सा तथा, कस्याञ्चिदाज्ञाता(या)मपि मन्त्रयन्त्रसम्बन्धेऽभिलषितसिद्धिर्विनयस्त्वेतदन्तरेणापि सस्फूर्त्तिक इति भावः। तथाऽ**धिगमः** सद्गुरोः सम्यक् शास्त्रादिपरिज्ञानम्, स एवोत्तरोत्तरनामा समीहितसम्पादकत्वा**न्मणिः** प्रधानरत्नं तत्र **महान्** गुरुतरः स चासौ **रोहणाद्रिश्च** वैडूर्यादिरत्नोत्पत्तिभूमिः पर्वतविशेषः। यथा तत्रावश्यं मणिस्तथा विनये सम्यग्ज्ञानमिति भावः। तथा **समस्ताः** सर्वेऽपि येऽ**नर्थाः** आराधनीयानाराधनेन तदप्रीतिप्रभवाभिभवप्रहारादयो दोषास्तेषाम्, किमित्याह-**प्रत्यर्थि** विरोधि निवारकं **तन्त्रं** मन्त्रौषधादिविकलः प्रदेशिन्यादिभ्रामणरूपो मस्तकादिबाधानिवर्त्तको व्यापारविशेषः। यथा तेन मस्तकबाधादयो निवर्त्तन्ते तथा विनयेन सर्वेऽप्याराध्यक्रोधादय इति भावः। किं बहुना? **त्रिजगति विनयः** प्रतिपत्तिविशेषः, **किं किमिति** वीप्सया सर्वसंग्रहमाह-कीदृशम्? **साधु** शोभनं समृद्धिरूपसौभाग्यादिकम्। किमित्याह-**न धत्ते** न पोषयति अपि तु सर्वमपीत्यर्थः। प्रथमं तावत् सर्वं धर्मप्रभृतिकं प्रापयति, प्राप्य च जननीव पुत्रं पोषयतीति भाव इति वृत्तार्थः॥ ३७॥

अथाष्टादशं पुस्तकधीद्वारं विस्पष्टयन् पुस्तकलेखनफलमाह—

संसाराण्र्णवनौर्विपद्वनदवः कोपाग्निपाथोनिधि-
र्मिथ्यावासविसारिवारिदमरुन्मोहान्धकारांशुमान्।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीव्रव्याधिलतासितासिरखिलान्तस्तापसर्पत्सुधा-
सारः पुस्तकलेखनं भुवि नृणां सज्ज्ञानदानप्रपाः॥ ३८॥

व्याख्या–पुस्तकलेखनं वर्त्तत इति क्रियायोगः। तथाहि–एतत् **संसार** एवानर्वाक्पारत्वा**दर्णवः** समुद्रस्तत्र **नौस्तरणिस्तद्वत्** पारप्रापकत्वात्। तथा **विपदः** आपदश्चोरराजादिव्यसनानि तेषु **वनदवः** आरण्यको वह्निरस्य च वह्निरूपणेन विपदां काष्ठरूपता स्वयमेवाभिव्यज्यत इति। अथवा विपद एवातिगहनत्वाद्वनं काननं तत्र दवः। तथा **कोप** एव दाहकत्वा**दग्निस्तत्र पाथोनिधिः** जलाकरः, यथा तेनाग्निः सर्वथा शम्यते तथाऽनेनापि पठनश्रवणादिपरम्परया कोप इति भावः। तथा **वासनं** भावनं वासो **मिथ्या** विपर्यस्तो **वासो** मिथ्यासंस्कारः स एवान्तःकरणगगनप्रसरणशीलत्वा**द्विसारी** प्रसरणशीलो **वारिदः** मेघस्तत्र **मरुत्** प्रचण्डवातः, यथा तेन वारिदो विदार्यते तथाऽनन्तलिखितशास्त्रार्थज्ञानपरिणामेन मिथ्यासंस्कार इति भावः। तथा **मोहः** अज्ञानं तदेव सुबोधालोकाच्छादकत्वा**दन्धकारः** तमस्तत्रां**शुमान्** आदित्यः। अत्रापि परम्परया तदुच्छेदकत्वं द्रष्टव्यम्। तथा **तीव्राः** समुत्कटा **व्याधयः** कुष्ट-ज्वरादयस्त एव वर्द्धनसाधर्म्याल्लता वल्लयस्तत्र **सितासिः** तीक्ष्णखड्गः लिखितशास्त्रार्थनिरन्तराभ्यासे हि भावातिशयाद् व्याधय इहलोकेऽपि तावन्निवर्त्तन्त एव, परलोके तु किं वक्तव्यमिति भावः। तथा**ऽखिलः** समस्तोऽभ्याख्यानपैशून्यादिजन्यो**ऽन्तस्तापः** महांश्चित्तसंक्लेशस्तत्र **सर्पन्** उल्लसन् **सुधायाः** अमृतस्या**सारः** वेगवान् वर्षः। अत्रापि तथैव शास्त्रार्थश्रवणपरिणामादिना स्वकर्मदोषपर्यालोचनेन मनःसन्तापनिवर्त्तकत्वमिति भावः। **पुस्तकानां** छेदपाटीप्रभृतिरूपाणां प्रसिद्धानां **लेखनं** शास्त्राक्षरविन्यसनं लेखकादिना। तत्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किमित्याह–**सम्यग्ज्ञानं** सम्यगवबोधस्तस्य **दानं** वितरणं तदुत्पादनमिति यावत्। तत्र **प्रपा** पानीयशाला। यथा तस्यां स्वेच्छया सर्वस्य सलिलपानं तथा पुस्तकेष्वपि सर्वेषामप्यध्ययनार्थिनामध्ययनमिति भावः। तदेवंविध-फलाकाङ्क्षिणा पुस्तकलेखनं विधेयमित्युपदेश इति वृत्तार्थः॥ ३८॥

तथा—

मिथ्यात्वोदञ्चदौर्वे व्यसनशतमहास्वापदे शोकशंका-
तङ्काद्यावर्त्तगर्ते मृतिजननजरापारविस्तारिवारि।
आधिव्याधिप्रबन्धोद्धुरतिमिमकरे घोरसंसारसिन्धौ
पुंसां पोतायमानं ददति कृतधियः पुस्तकज्ञानदानम्॥ ३९॥

व्याख्या–कृतधियः पुस्तकज्ञानदानं ददतीति योगः। कीदृशं तदित्याह– **पोतायमानं** यानपात्रायमाणम्, केषामित्याह– **पुसां** नराणाम्, क्व इत्याह– **घोरसंसारसिन्धौ** भयानकभवसमुद्रे, कीदृशे? **मिथ्यात्वं** प्रसिद्धं तदेव सांसारिकसकलमहासन्तापहेतुत्वा**दौर्वः** वडवानलो यत्र स तथा, तत्र। तथा **व्यसनानि** राजचौराद्युपद्रवास्तेषां **शतानि**, बाहुल्योपलक्षणमिदम्, तेन बहूनि व्यसनानीत्यर्थः। तान्येव सततसंसारसमुद्रावस्थायित्वात् **स्वापदानि** यादांसि मत्स्य-कच्छपादीनि यत्र स तथा तत्र। तथा **शोकः** प्रियतम-मरणादौ दुःखविशेषः, **शङ्का** भयं संदेहो वा **आतङ्कः** सद्योघाती रोग-विशेषः शूलादिस्ततः शोकश्च शङ्का चेत्यादि द्वन्द्वस्ततस्ते **आद्या** येषां नयनश्रवणोदरमहाव्यथानां ते तथा। त एव पुनः पुनर्भवभ्रमणसाधर्म्या-**दावर्त्तगर्त्तः** जलपरिभ्रमणश्वभ्रविशेषो यत्र स तथा तत्र। तथा **मृतिजन-नजराः** प्रसिद्धास्ता एव प्रतिजन्मभावेनातिबाहुल्या**दपाराणि** अलब्धपर्यन्तानि **विस्तारीणि** अतिप्रसरणशीलानि **वारि** जलानि यत्र स तथा, तत्र। तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधयो मानस्यः पीडाः, **व्याधयः** कुष्ट-काश-श्वासादयो बहुकालानुवर्त्तिनो रोगास्तेषां **प्रबन्धाः** सातत्येन भवनानि त एवातिगुरुत्वाद्बाधाविशेषाधायकत्वाच्च **तिमिमकराः** जलचरविशेषा यत्र स तत्र **पोतायमानं कृतधियो** विहितसुकृतविधानबुद्धयो **ददति** वितरन्ति। किं तदित्याह-- **पुस्तकान्येव** लिखितसत्शास्त्रच्छेदपाट्यादीनि श्रुतज्ञानोत्पादकत्वात् **ज्ञानदानं** सम्यगवबोधवितरणम्। साम्प्रतं हि प्रायः समस्तप्राणिप्रियसम्पादकत्वाच्छेषदानेभ्यः पुस्तकदानमेव श्रेयः। तदुक्तम्—

साक्षात्तत्त्वविलोकिलोकविकले काले कलौ साम्प्रतं
मिथ्याज्ञानतमःप्रदीपसदृशं निःशेषसौख्यावहम्।
व्यालेख्यागमपुस्तकादिविधिना विद्वन्मुनिभ्यो भृशं
सर्वप्राणिहिताय देयमसमं श्राद्धैः स्वयं भक्तितः॥

विस्मारकः कलियुगे सकलोऽपि लोकः
प्रायः सदक्षरविलोकनजातबोधः।
इत्याकलय्य धनिनो मुनिपुङ्गवेभ्यः
सत्पुस्तकादि ददतीह त एव विज्ञाः॥

[ ]

इति वृत्तार्थः॥ ३९॥

तदेवमष्टादशाऽपि द्वाराणि परिसमाप्य साम्प्रतं प्रकरणकारः स्वयं दत्तशिक्षानुसारेण प्रवृत्तिं कुर्वतां फलमादर्शयन्नेव परिसमाप्तिं चक्रबन्धेन प्राह-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शिक्षा भव्यनृणां[१] गणाय[२] मयका[३] नर्थप्रदै[४]र्नस्तरुं[५]
दग्धुं वह्निरभाणि[६] येयमनया[७] वर्त्तेत[८] योऽमत्सरः[९]।
नम्यं चक्रभृतां[१०] जिनत्वमपि[११] सल्लब्ध्वार्च्यपादः[१२] परं
रन्तासौ शिवसुन्दरीस्तनतटे रुन्द्रे नरः सादरम्॥ ४०॥

व्याख्या–योऽनया शिक्षया वर्त्तेत स शिवसुन्दरीस्तनतटे रन्तेति सम्बन्धः। अनया शिक्षया वर्त्तेत। **या** किमित्याह–**अभाणि** भणिता विस्तरेण प्रतिपादिता, कासावित्याह–**शिक्षा** हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्तिरूप उपदेशः। कस्मै इत्याह–**गणाय** समूहाय, केषामित्याह–**भव्यनृणां** मुक्तिगमनयोग्यपुरुषाणामुपलक्षणं चैतत्तेन यथासम्भवं स्त्रीणामपि द्रष्टव्या। केनेत्याह–**मयका** मया इत्यर्थः। कीदृशीति रूपकेणाह–**वह्निः** वैश्वानरः। किं कर्त्तुमित्याह–**दग्धुं** भस्मसाद् विधातुम्। कमित्याह–**अनर्थाः** चौरराजरोगदारिद्र्याद्युपद्रवा**स्तत्प्रदं** तद्विधायि यदेनः पापं तदेव दौर्भाग्यानादेयायशःप्रभृतिप्रभूतदुःप्रकृतिपत्रलत्वा**त्तरुं** वृक्षस्तम्। **येति** पूर्वोपदर्शिताष्टादशद्वाररूपा, **इय**मिति मानसानुभवप्रत्यक्षा न त्वतीतत्वेन तच्छब्दवाच्या। अत एवोक्त**मनये**त्युपदर्शितरूपयैव **यः** कश्चित् सुकृतकर्मा **नरो** भव्यसत्त्वः। किमित्याह–**वर्त्तेत** प्रवृत्तिं कुर्यात् सादरमिति व्यवहितपदेन सम्बन्धः। क्रियाविशेषणं चैतत्ततश्च सबहुमानं यथा भवत्येवं प्रवर्त्तेत। अनादरकृतं हि शुभमप्यनुष्ठानं न विशिष्टफलसाधकं स्यादिति भावः। किं यथा तथा? नेत्याह–**अमत्सरः** परगुणासहिष्णुत्ववर्जितः। शेषगुणसद्भावेऽपि परगुणासहिष्णुत्वं सर्वगुणिजनगतसमस्तगुणद्वेषनिबन्धनत्वेनानन्तसंसारकारणमिति विशेषेण मत्सररहितत्वप्रतिपादनम्। अथैवं वर्त्तने फलमाह–**असौ** धर्म्यपदप्रवृत्तिमान् पुरुषः, किमित्याह–**रन्ता** क्रीडिष्यति। कीदृशः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्नित्याह–**अर्च्यौ** पूजनीयौ अर्थात् त्रिभुवनेन **पादौ** चरणौ यस्य स तथा, **परं** केवलम्। क्वेत्याह–**शिवं** मोक्षः तदेव निरन्तरातुलप्रमोददायित्वसाधर्म्यात् **सुन्दरी** रमणी तस्याः **स्तनतटे** कुचस्थले। कीदृशे? **रुन्द्रे** विस्तीर्णे तदितरस्य विशिष्टानन्दासम्पादकत्वात्। तत् किमेवमेव सामान्यजनरूपः सन्? नेत्याह-**लब्ध्वा** प्राप्य **जिनत्वमपि** रागद्वेषपरीषहोपसर्गादिजयात् केवलज्ञानोत्पादे चतुस्त्रिंशदतिशयोपेतत्वरूपं तीर्थकरत्वमपि, आस्तां चक्रधरत्व-वज्रधरत्वादिकमित्यपेरर्थः। कीदृशम्? **स**दिति शोभनं शेष-नरासुरसुरेभ्यः प्रधानत्वात्, अत एवोक्तं **नम्यं** नमस्करणीयम्। केषा-मित्याह–**चक्रभृतां** चक्रवर्त्तिनाम्, उपलक्षणं चैतन्नरप्रधाननम्यत्वम्। तेन सुरासुरप्रधाननम्यत्वमप्यस्य द्रष्टव्यमिति। तदेवं धर्मशिक्षायाः फलमतुलम-वधार्य तत्र **सादरं** प्रवर्त्तितव्यमित्युपदेश इति वृत्तार्थः॥ ४०॥

चक्रमिति, प्रथमवृत्तोपदर्शितवर्णन्यासक्रमेणेदमपि षडरकं चक्रं द्रष्टव्यम्। केवलं नामाङ्कस्थाने **गणिजिनवल्लभवचनमदः** इत्येता-वन्मात्रेणैव विशेषः। स्थापना चेयम्।

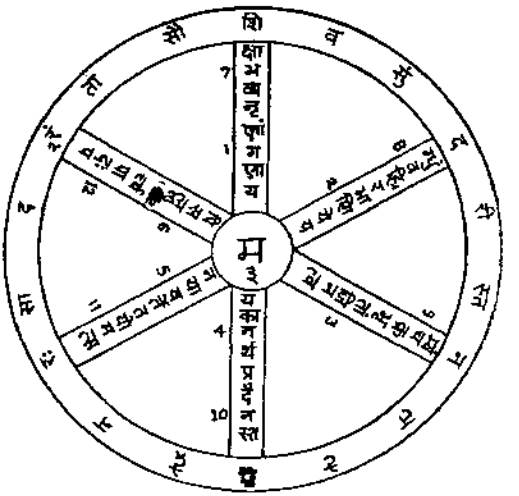

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समाप्तं चेदं युगप्रवरागमश्रीमज्जिनवल्लभसूरिविरचितं
धर्मशिक्षाप्रकरणमिति ॥ छ ॥
शुभमस्तु। नमोऽस्तु वाग्देवतायै।
नमोऽस्तु श्रीमज्जिनपतिसूरिचरणारविन्देभ्यः ॥ छ ॥

[वृत्तिकार-प्रशस्तिः]

गुणग्रहोष्णद्युति(१२९३)संख्यवर्षे पौषे नवम्यां रचिता सितायाम्।
स्पष्टाभिधेयाद्भुत**धर्मशिक्षावृत्ति**र्विशुद्धा स्फटिकावलीव ॥ १ ॥
यः श्रीमद्वर्द्धमानं जिनमनुहृतवान् सद्गुणैरिन्दुकान्तैः
कान्तावैमुख्यदिव्यावगमसुसुकृताख्यानमुख्यैरसंख्यैः।
स्वस्यान्येषां च शश्वत् सकलगुणमणीवर्द्धनाद्वर्द्धमाना-
भिख्यः श्रीमानिहासीन्निजकुलदिनकृत्सूरिरुत्सृष्टभूरिः ॥ २ ॥
तच्छिष्यः शस्यकीर्त्तिः पृथुनृपतिसदःकाननान्तःप्रगर्जत्-
प्राज्यप्रावादुकोद्यत्करिमदशमनप्रौढसिंहः क्रियाभिः।
नानातर्कादिशास्त्रप्रणयनचतुरात्यन्तनिष्णातबुद्धिः
सिद्धान्तार्थप्रदीपप्रवचनसदनोत्तम्भनस्तम्भलीलः ॥ ३ ॥

सूरिर्जिनेश्वर इतीह बभूव शाखी
यस्याऽभवत् फलयुगाकृतिशिष्ययुग्मम्।
तत्रादिमो निरुपमो **जिनचन्द्रसूरि-**
रन्यो नवाङ्गनिधिदोऽ**भयदेवसूरिः** ॥ ४ ॥

ततोऽजनि **श्रीजिनवल्लभाख्यः** सूरिः सुविद्यावनिताप्रियोऽसौ।
अद्यापि सुस्था रमते नितान्तं यत्कीर्त्तिहंसी गुणिमानसेषु ॥ ५ ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यश्चाकरोत् महावृत्तैरिदं प्रकरणं लघु।
धर्मशिक्षाभिधं भव्यसत्त्वानां शिवदं ततः॥ ६॥
समजनि **जिनदत्तः** सूरिरुत्सूत्रसूत्र-
च्छिदुरशितकृपाणी कल्पवाणीप्रपञ्चः।
मनसिजगजसिंहो यस्य शिष्यः **प्रसिद्ध**-
स्त्रिजगति **जिनचन्द्रः** सूरिरुद्भूततन्द्रः॥ ७॥
जिनपतिरिति सूरिस्तद्विनेयावतंसः
समभवदिह येन प्रोज्ज्वलानि प्रचक्रे।
गुणिजनवदनानि प्रौढ़वादीन्द्रवृन्द-
व्रजविजयसमुत्थैरिन्दुगौरैर्यशोभिः॥ ८॥

तच्छिष्यलेशेन जडात्मनाऽपि प्रपञ्चिता किञ्चन **धर्मशिक्षा**।
चक्रे सुबोधा **जिनपाल**नाम्ना निदेशतः **सूरिजिनेश्वराणाम्**॥ ९॥
येषामक्षोभवाचां सदसि रचयतां नव्यकाव्यप्रबन्धं
बन्धुं मावेस्य(?) वीक्ष्य क्वचिदपि विबुधेनाऽधुनाऽदृष्टपूर्वम्।
आश्चर्यान्मोदपूर्णा सुललितवचनैः संस्तुवाना अजस्रं
शीर्षं हर्षाश्रुवर्षप्लुतनयनयुगा धीधना धूनयन्ति॥ १०॥
व्याख्यातं यत् किमप्यत्रायुक्तं मान्द्यान्मतेर्मया।
शोधनीयं विशेषज्ञैस्तद्विधाय कृपां मयि॥ ११॥
अधीयमाना संविग्नैरियं **वृत्ति**र्निरन्तरम्।
धरेव राजिता वर्णैश्चिररात्राय नन्दतात्॥ १२॥

* * *

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

[पुष्पिका]

॥ ९०॥ संवत् १६०० वर्षे माघ सुदि ७ वासरे श्रीजेसलमेरुमहादुर्गे श्रीबृहत्खरतरगच्छे श्रीजिनमाणिक्यसूरिविजयिराज्ये श्रीमच्छ्रीसागरचन्द्रसूरिसूरीश्वरान्वये वाचनाचार्यवर्यमहिमराजगणि तत्शिष्यरत्न वा० दयासागरगणि-शिष्यप्रवर वा० ज्ञानमन्दिरगणीनां शिष्यशिरोमणि श्रीदेवतिलकोपाध्यायैः पं० विजयराजमुनि पं० नयसमुद्रगणि पं० पद्ममन्दिरक्षुल्लकादिशिष्यसुपरिवारसहितैः श्रीधर्मशिक्षाप्रकरणवृत्तिर्गृहीता वाच्यमाना चिरं नन्दतु॥ श्रीरस्तु॥

* * *

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट–१

धर्मशिक्षायाः पद्यानुक्रमणी

आदिपद	पद्याङ्क	पृष्ठाङ्क	आदिपद	पद्याङ्क	पृष्ठाङ्क
अर्थे निःसीम्नि पाथः	२६	७१	प्रोत्सर्पद् दर्पसर्पन्	१६	५५
इत्यादिप्रथितप्रभाव०	७	१६	प्रोल्लेसे गुणवल्लिभिः	३५	८६
उद्धावत्क्रोधगृध्रे०	२७	७३	भक्तिश्चैत्येषु	३	१०
उद्यद्दारिद्र्यरुन्द्र०	३२	८२	भो भो भव्या भवाब्धौ	२	६
कान्ता कान्तापि तापं	२५	६९	मानः सन्मानविघ्नः	२४	६७
कालुष्यं कचसञ्चया०	२९	७६	मिथ्यात्वोदञ्चदौर्वे	३९	९२
चक्रे तीर्थकरैः स्वयं	६	१६	मुक्तौ गन्तरि	१५	५४
चक्षुर्दिक्षु क्षिपन्ती	२८	७४	मूलं धर्मद्रुमस्य	३७	८९
जीवा भूरिभिदा	१२	२६	रागद्वेषप्रमादा०	३०	७९
ज्ञानादित्रयवान्	८	१९	विद्याकन्दासिदण्डः	२२	६४
तथ्या पथ्या यथार्थ	१९	५९	विद्वत्प्रेयसि	३१	८१
तद्गेहे प्रस्नुत०	५	१५	व्यपोहति विपद्भरं	४	१३
त्वग्भेदच्छेदखेद०	१०	२२	शिक्षा भव्यनृणां	४०	९४
तेने तेन सुधांशु०	३४	८४	संसाराण्र्णवनौ	३८	९०
दशविधयतिधर्मं	२१	६३	सख्यं साप्तपदीन०	१८	५८
नत्वा भक्तिनताङ्गको०	१	२	सम्यग्ज्ञानगरीयसां	१४	५०
निद्रामुद्रां विनैव	११	२४	सर्पत्कन्दर्पपांशु०	३३	८२
प्राहुर्दाहकमेव	३६	८७	सर्वज्ञोक्तमिति	१३	४८
प्रीत्या भीत्या च सर्वं	२०	६१	स स्नातश्चन्द्रिकाभिः	९	२०
प्रेंखत्खड्गाग्रभित्रो०	२३	६६	सुखी दुःखी रंको	१७	५७

* * *

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट — २

वृत्तिकारोद्धृत-पद्यानुक्रमणी

आदि पद	स्रोत	पृष्ठाङ्क
अट्ठविहा गणिसंपय	[ ]	५१
अत्थी उ जो विणीओ	[ ]	८९
अन्ना वि दिट्ठीया	[ ]	३४
अनिशमशुभसंज्ञा	[श्रावकप्रज्ञप्ति २७४]	७८
अन्यत् प्रकुर्वतः	[काव्यप्रकाश सूत्र १३६]	१६
अभवन् वस्तुसम्बन्ध	[काव्यप्रकाश सूत्र १५०]	२२
अभिमुहगमणं	[ ]	८५
अर्थआदिभ्योऽच् (टि.)	[पा. सिद्धान्तकौमुदी ५/२/१२७]	१२
अलाभ-रोग-तण	[नवतत्त्व २८]	४०
अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे	[न्यायसूत्र]	५१
अविणीयजणो न	[ ]	८८
अशीतिर्वातजा	[ ]	७०
अष्टौ चक्राणि सव्ये	[ ]	९
आगमो ह्याप्तवचन	[ ]	८०
आणवणि वियार.	[नवतत्त्व २४]	३४
आसिं दोषक्षयं विदुः	[ ]	१२
आभिग्गहियं	[प्राचीनचतुर्थकर्मग्रन्थ ७५]	४२
आयाराई अट्ठ	[ ]	५१
आयारसुयसरीरे	[ ]	५१
आरंभिया परि	[ ]	३४
इंदियकसाय	[नवतत्त्व २१]	३४
इंदियकसायगारव	[ ]	८५
इरियाभासा	[ ]	३९
उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्	[तत्त्वार्थसूत्र ५/२९]	४९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि पद	स्रोत	पृष्ठाङ्क
उदकस्योदः पेषंधिवास(टि.)	[सिद्धहेम. ३/२/१०४]	७२
उवओगलक्खण	[ ]	२८
उपभोगोपायपरो	[ ]	५६
एकैका चास्त्रिरष्टो	[ ]	८
एगिंदिय सुहु	[ ]	२७
एगे आया	[स्थानाङ्ग सूत्र १]	२७
एसा अट्ठविहा	[ ]	५१
एसिं अंतरभावो	[ ]	३६
ओरालिया तम्मीसा	[ ]	४२
काइयकिरिया	[ ]	३४
का श्रीः श्रोण्यामजस्रं	[ ]	७८
कुल्याल्पा कृत्रिमा सरित्	[अमरकोष १/१०/३४]	६६
केवलिय नाण.	[ ]	३८
क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि	[काव्यप्रकाश सूत्र १६२]	२५
क्रियैव फलदा पुंसां	[ ]	१९
क्षमी यत् कुरुते	[ ]	६२
क्षान्तिमार्द्दवार्जव.	[तत्त्वार्थ. ९/६]	६३
खणलवतवच्चियाए	[ ]	१६
खंती य मद्दवज्जव.	[ ]	४०
खुहा-पिवासा सी	[नवतत्त्व २७]	४०
गगनं गगनाकारं	[रुद्रट काव्यालङ्कार २/२९]	६७
गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति	[प्राचीन द्वितीयकर्मग्रन्थवृत्ति]	३३
गहादिभ्यः (टि.)	[सिद्धहेम. ६/३/६३]	२१
गहादिभ्यश्च (टि.)	[पा. सिद्धान्तकौमुदी ४/२/१३८]	२१
गुणाङ्गाद् वेष्टेयसू (टि.)	[सिद्धहेम. ७/३/९]	५३
चाणक्यामात्यपाशाः	[ ]	८
चित्तं सुपसत्थमणो	[ ]	१०
चुल्लगपासगधन्ने	[उत्तराध्ययननि. १६०]	६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि पद	स्रोत	पृष्ठाङ्क
जम्हा निकाइयाण	[ ]	४४
जया पुण्णं च पावं च	[दशवै. ४/१६]	४६
जीवकर्मप्रदेशानां	[ ]	४१
जीवाजीवा पुन्नं	[नवतत्त्व. १]	२८
जीवाजीवास्रवसंवर.	[तत्त्वार्थसूत्र १/४]	२८, ५०
जुत्तीए अविरुद्धो	[ ]	३२
जो जीवे वि ण याणइ	[दशवै. ४/१२]	४६
जो जीवे वि वियाणाई	[दशवै. ४/१३]	४६
तंबोलपाण.	[ ]	११
ततोऽन्तराय.	[तत्त्वार्थ. भा. प्रशस्ति. श्लो ३]	४५
तद्युक्तश्च लकार:	[रुद्रट काव्यालङ्कार २/२०]	६४
तपसा निर्जरा च	[तत्त्वार्थसूत्र ९/३]	४४
तद्रूपकमभेदो	[काव्यप्रकाशसूत्र १४०]	६६
तसदस चउवन्नाई	[ ]	३३
तसबायरपज्जत्तं	[ ]	३३
तह पिज्जवत्तिया	[ ]	३५
तुममच्छीहिं न दीससि	[ ]	१४
ते लाचने प्रतिदिशं	[ ]	७१
थावरदस चउ.	[ ]	३७
थावरसुहुमअपज्जं	[ ]	३७
दन्तौष्ठमित्यनुराग:	[न्यायतात्पर्यपरिशुद्धि पृ. २४७] [१/१/१४]	७४
दृश्यं वस्तु परं न	[ ]	६८
द्वित्रिपदा पाञ्चाली	[रुद्रट काव्यालङ्कार २/४]	१७
धम्माधम्मागासा	[नवतत्त्व. ५]	२९
नग्नप्रेत इवा.	[गंधहस्ति टीका]	७३
नरतिरिसुराउ.	[ ]	३३
नरयाउ नीय.	[ ]	३८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि पद	स्रोत	पृष्ठाङ्क
न लोकाव्ययनिष्ठा. (टि.)	[सिद्धान्तकौमुदी २/३/६९]	५४
नाणं पयासयं सोहओ	[आवश्यकनि. १०३]	४७
नाम्युपधप्रीकृगृज्ञां कः (टि.)	[कातन्त्रव्याकरण ४/२/५१]	२
निजवर्गान्त्यैवर्ग्याः	[रुद्रट काव्यालङ्कार २/२०]	७६
पच्चुपन्नं वाहिं	[ ]	१७
पढमं नाणं तओ दया	[दशवै. ४/१०]	४६
पढममणिच्च.	[ ]	४०
परिणतिविरसं	[ ]	७१
पात्रमुत्तमगुणै.	[ ]	८५
पावट्ठाणेहिंतो	[ ]	४०
पाषाणस्तम्भचूर्णा.	[ ]	९
पूर्वार्जितं क्षप.	[तत्त्वार्थ. भा. प्रशस्ति. २]	४४
प्रासादे सा पथि पथि	[ ]	७५
प्रियस्थिरस्फिरोरु.	[सि.हे. ७-४-३८]	५३
प्रियस्थिरस्फिरोरु. (टि.)	[पा. सिद्धान्तकौमुदी ६/४/१५७]	५३
प्रौढायां कस्तयुक्तश्च	[रुद्रट काव्यालङ्कार २/२४]	१९
बंधस्स मिच्छ अवि.	[प्राचीन चतुर्थकर्मग्रन्थ ७४]	४१
बन्धविप्रयोगो मोक्षः	[ ]	४२
बारसविहा अविरई	[प्राचीन चतुर्थकर्मग्रन्थ ७६]	४२
भिन्नं कर्तुं किल स्त्री	[ ]	८
मणगुत्तिमाईयाओ	[ ]	३९
मन्थे तथौदने.	[ ]	७२
मन्थौदनसक्तुबिन्दु. (टि.)	[सिद्धहेम. ३/२/१०६]	७२
महाकुलाद् वाऽज्ञीनञौ	[सिद्धहेम. ६/१/७७]	७
मायापरस्स मणु.	[ ]	६८
रागाद्वा द्वेषाद्वा	[ ]	८०
लच्छीकरकमल.	[ ]	२४
लश्चापरैरसंयुक्तः	[रुद्रट काव्यालङ्कार २/२९]	७२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लाटीया पञ्च सप्त वा	[रुद्रट काव्यालङ्कार २/४]	१९
लोगसहावो बोही	[ ]	४०
विणओ सासणे मूलं	[उपदेशमाला]	८९
विद विचारणे	[पा. धातुपाठ १५४३]	५५
विनयः शासने मूलम्	[ ]	१३
विन्देत् कार्पटिकः	[ ]	९
विस्मारकः कलियुगे	[ ]	९३
वृत्तेरसमासाया	[रुद्रट काव्यालङ्कार २/३]	५८
वृद्धश्रेष्ठ्यङ्गजातैः	[ ]	८
शब्दाः समासवन्तो	[रुद्रट काव्यालङ्कार २/५]	६१
शाठ्येन धर्माचरणं दम्भः	[ ]	८३
सच्चं मोसं मीसं	[ ]	४२
संजलण नोकसाया	[ ]	३८
संसद्यष्टशतो	[ ]	८
सकलभरतवर्षा.	[ ]	७
सऽन्नगिहिलिंग.	[ ]	४३
समयंमि सत्त.	[ ]	५०
समांसमीनाद्यश्वीनाद्य.	[सिद्धहेम. ७/१/१०५]	५८
समिई गुत्ती	[ ]	३९
सम्भावनामथोत्प्रेक्षा	[काव्यप्रकाशसूत्र १३८]	२५
सव्वं गीयं विलवियं	[उत्तराध्ययन सूत्र १३/१६]	७०
साक्षात्तत्त्वविलोकि.	[ ]	९३
सामाइयं छेओ.	[ ]	४०
सुनिबिडजलनीली.	[ ]	९
सुहदुहरूवो	[ ]	३४
सेष्टा संसृष्टिरेतेषां	[काव्यप्रकाशसूत्र २०७]	२५
सो हु तवो कायव्वो	[ ]	१८
स्वयम्भूरमणे	[ ]	९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिशिष्ट — ३

(पृष्ठ ७ पंक्ति १९ टिप्पणी)

चुल्लग पासग धन्ने रयणे अ सुमिण चक्के य।
चम्म जुगे परमाणू दस दिट्ठंता मणुअलंभे॥ १६०॥

व्याख्या — 'चोल्लगं' परिपाटीभोजनम्, पाशको धान्यं द्यूतं रत्नं च 'सुमिण' त्ति स्वप्नः चक्रं च चर्म युगं परमाणुर्दश दृष्टान्ता 'मणुयलम्भे' त्ति भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य मनुजत्वप्राप्ताविति गाथासमासार्थः॥१६०॥ व्यासार्थस्तु वृद्धसम्प्रदायादवसेयः, स चायम् —

"बंभदत्तस्स एगो कप्पडितो ओलग्गतो बहुसु आवईसु अवत्थासु य सव्वत्थ सहातो आसि। सो य रज्जं पत्तो। बारससंवच्छरितो अहिसेतो। कप्पडिओ तत्थ अल्लियावंपि न लहइ। ततो अणेण उवातो चिंतितो- उवाहणाउ पबंधेऊण धयवाहेहिं समं पहाविंतो। रण्णा दिट्ठा। उइण्णेणं अवगूहितो। अन्ने भणंति-तेण दारपालं सेवमाणेण बारसमे संवच्छरे राया दिट्ठो। ताहे राया तं दट्ठूणं संभंतो, इमो सो वरातो मम सुहदुक्खसहायगो, एत्ताहे करेमि वित्तिं। ताहे भणइ-किं देमि त्ति?, सोऽवि भणति-देहि करचोल्लए घरे घरे जाव सव्वंमि भरहे णिट्ठियं, ताहे पुणोऽवि तुम्हे घरे आढवेऊण भुंजामि। राया भणइ-किं ते एएण?, देसं ते देमि, तो सुहं छत्तच्छायाए हत्थिखंधवरगतो हिंडिहिसि। सो भणइ-किं मम एद्दहेण आउट्टेण?, ताहे से दिण्णो चोल्लगो। तओ पढमदिवसे रायाणो घरे जिमितो, तेण से जुवलयं दीणारो य दिण्णो, एवं सो परिवाडीए सुसज्जेसु राउलेसु बत्तीसाए रायवरसहस्सेसु, तेसिं खद्धा भोइया। तत्थ य णयरीए अणेगाओ कुलकोडीओ, णगरस्स चेव सो कया अंतं काही?, ताहे गामेसु, ताहे पुणो भारहवासस्स। अवि सो वच्चेज्ज अंतं, ण य माणुसत्तणाओ भट्ठो पुणो माणुसत्तणं लहइ ॥ १॥"

'पासग'त्ति चाणक्कस्स सुवण्णं णत्थि। ताहे केणवि उवाएण विढविज्जा सुवण्णं, ताहे जंतपासया कया। केई भणंति-वरदिण्णया, ततो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एगो दक्खो पुरिसो सिक्खवितो, दीणारथालं भरियं। सो भणइ-यदि ममं कोई जिणइ तो थालं गिण्हउ, तो अह अहं जिणामि तो एगं दीणारं जिणामि, तस्स इच्छाए जंतं पडति अतो न तीरइ जिणिउं। जह सो ण जिप्पइ एवं माणुसलंभोऽवि। अवि णाम सो जिप्पेज्ज ण य माणुसाओ भट्ठो पुणो माणुसत्तणं॥ २॥

'धण्णे'त्ति जत्तियाणि भरहे धण्णाणि ताणि सव्वाणि पिंडियाणि, एत्थ पत्थो सरिसवाण छूढो, ताणि सव्वाणि अदूयालियाणि। तत्थेगा जुण्णा थेरी सुप्पं गहाय ते विणेज्जा, पुणोऽवि पत्थं पूरेज्जा?, अवि सा दिव्वपसाएण पूरेज्ज न वि माणुसत्तणं॥ ३॥

'जुए' जहा एगो राया, तस्स सभा अट्ठोत्तरखंभसयसन्निविट्ठा। जत्थ अत्थाणियं देइ, एक्केक्को य खंभो अट्ठसयंसितो। तस्स रण्णो पुत्तो रज्जकंखी चिंतेइ-थेरो राया, मारेऊणं रज्जं गेण्हामि, तं चामच्चेण णायं, तेण रण्णो सिट्ठं। तओ राया तं पुत्तं भणति-अम्हं जो ण सहइ अणुक्कमं सो जूयं खेलइ, जो जिणइ रज्जं से दिज्जइ, कहं पुण जिणियव्वं?, तुब्भं एगो आतो, अवसेसा अम्हं आया। जइ तुमं एगेण आएण अट्ठसयस्स खंभाणं एक्केकं अंसियं अट्ठसयवारा जिणसि तो तुज्झ रज्जं, अवि देवया विभासा॥४॥

'रयणे' जहा एगो वाणियओ वुड्ढो, रयणाणि से अत्थि। तत्थ य महे अन्ने वाणियया कोडिपडागातो उब्भेंति, सो ण उब्भवेति। तस्स पुत्तेहिं थेरे पउत्थे ताणि रयणाणि विदेसीवणियाण हत्थे विक्कीयाणि, वरं अम्हेऽवि कोडिपडागाओ उब्भवेंता। तेऽवि वाणियगा समंततो पडिगया पारसकूलाईणि। थेरो आगतो, सुयं जहा विक्कीयाणि, ते अंबाडेइ, लहुं रयणाणि आणेह। ताहे ते सव्वतो हिंडिउमाढत्ता, किं ते सव्वरयणाणि पिंडिज्जा?, अवि य देवप्पभावेणऽवि य विभासा॥ ५॥

'सुविणए'त्ति एगेण कप्पडिएण सुविणते चंदो गिलितो, कप्पडियाण य कहियं। ते भणंति-संपुण्णचंदमंडलसरिसं पोलियं लहेसि, लद्धा घरछाइणियाए, अण्णेण वि दिट्ठो, सो ण्हाऊण पुप्फफलाणि गहाय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सुविणयपाढयस्स कहेइ। तेण भणियं-राया भविस्ससि। इओ य सत्तमे दिवसे तत्थ राया मतो अपुत्तो, सो य निव्विण्णो अच्छइ जाव आसो अहिवासितो आगतो, तेण तं दट्ठूणं हिसियं पयक्खिणीकतो य, तओ य विलइओ पट्ठे, एवं सो राया जातो। ताहे सो कप्पडिओ सुणेइ, जहा तेण वि दिट्ठो एरिसो सुविणतो, सो आएसफलेण किर राया जातो, सो चिंतेइ-वच्चामि जत्थ गोरसो, तं पिबेत्ता सुयामि, जाव पुणोऽवि तं सुमिणं पेच्छामि, अवि पुणो सो पेच्छेज्जा ण माणुसातो॥ ६॥

'चक्कं'ति दारं, इंदपुरं नाम नयरं, इंददत्तो नाम राया। तस्स इट्ठाणं वराणं देवीणं बावीसं पुत्ता। अन्ने भणंति-एक्काए चेव देवीए पुत्ता, राइणो पाणसमा, अन्ना एक्का अमच्चधूया, सा परं परिणेंतेण दिट्ठिल्लिया। अन्नया कयाति रिउण्हाया समाणी अच्छइ, राइणा दिट्ठा। कस्स एसत्ति? तेहिं भणियं-तुम्ह देवी एसा। ताहे सो ताए समं एक्करत्तिं वसितो, सा य रिउण्हाया, तीसे गब्भो लग्गो। सा य अमच्चेण भणिल्लिया-जया तुमे गब्भो आहूतो होइ तया ममं साहेज्जसु। ताहे तस्स कहियं-दिवसो मुहुत्तो जं च राएण उल्लविओ सायंकारो, तेण तं पत्तए लिहियं, सो सारवेइ। णवण्हं मासाणं दारतो जातो, तस्स दासचेडाणि तद्दिवसं जायाणि। तं जहा-अग्गियतो पव्वइतो बहुलिया सागरो य, तेण सहजायगाणि। तेण कलाइरियस्स उवणीतो। तेण लेहाइयातो गणियप्पहाणातो कलाओ गहितो। जाहे ताओ गाहेंति आयरिया ताहे ताणि कड्ढिंति विउलेंति य, पुव्वपरिच्चएणं ताणि रोलिंति, तेण ताणि चेव ण गणियाणि, गहियातो कलातो। ते अन्ने बावीसं कुमारा गाहिज्जंता आयरियं पिट्टंति, अवयणाणि य भणंति-जति सो आइरितो पिट्टेति ताहे गंतूण माऊणं साहिंति। ताहे ताओ आयरियं खिंसंति-कीस आहणसि?, किं सुलभाणि पुत्तजम्माणि?, अतो ते ण सिक्खिया।

इओ य महुराए जियसत्तू राया। तस्स सुया निव्वुईनाम दारिया। सा रण्णो अलंकिया उवणीया। राया भणइ-जो ते रोयइ भत्तारो। तो ताए णायं-जो सूरो वीरो विक्कंतो सो मम भत्तारो होइ। सो पुण रज्जं दिज्जा, ताहे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सा बलं वाहणं गहाय गया इंदपुरं नयरं। तस्स इंददत्तस्स रण्णो बहवे पुत्ता, इंददत्तो तुट्ठो चिंतेइ-णूणं अन्नेहिंतो राईहिं लट्ठयरो, आगया। ततो तेण ऊसियपडायं नयरं कारियं। तत्थ एगंमि अक्खे अट्ठ चक्काणि, तेसिं पुरओ ठिया धीउल्लिया, सा अच्छिमि विंधियव्वा। तओ इंददत्तो राया संनद्धो निग्गओ सह पुत्तेहिं। सावि कण्णा सव्वालंकारविभूसिया एगंमि पासे अच्छइ, सो रंगो रायाणो ते य दंडभडभोइया जारिसो दोवईए। तत्थ रण्णो जेट्ठपुत्तो सिरिमाणी नाम कुमारो, सो भणिओ-पुत्त! एसा दारिया रज्जं च घेत्तव्वं, अतो विंधेहि पुत्तलियंति। ताहे सो अकयकरणो तस्स समूहस्स मज्झे धणुं चेव गिण्हिउं न तरइ, कहवि णेण गहियं, तेण जओ वच्चउ तओ वच्चउ त्ति मुक्को सरो, सो चक्के अब्भिडिऊण भग्गो। एवं कस्सति एगं अरगं वोलीणो कस्सति दोण्णि, अन्नेसिं बाहिरेण चेव णीइ। ताहे राया अद्धितिं पकतो-अहो! अहं एएहिं धरिसितो त्ति। ततो अमच्चेण भणितो-कीस अधिइं करेसि?, राया भणइ-एएहिं अहं अप्पहाणो कतो। अमच्चो भणइ-अत्थि अन्नो तुम्ह पुत्तो मम धूयाए तणतो, सुरिंददत्तो नाम, सो समत्थो विंधिउं। अभिण्णाणाणि य से कहियाणि, कहिं?, सो दरसितो। ततो राइणा अवगूहितो भण्णति-जुत्तं तव अट्ठ रहचक्के भेत्तूण पुत्तलियं अच्छिंमि विंधेत्ता रज्जं सुकलत्तं निव्वुइं दारिइं संपावित्तए। तओ कुमारो जहा आणवेहित्ति भणिऊण ठाणं ठाइऊणं धणुं गेण्हति, ताणिऽवि दासरूवाणि चाउद्दिसिं ठियाणि रोडंति, अन्ने य उभयपासिं गहियखग्गा दो जणा, कहवि लक्खस्स चुक्कइ ततो सीसं छिंदेयव्वंति। सोऽवि उज्झातो पासे ठितो भयं देइ-मारिज्जसि जइ चुक्कसि, ते बावीसंपि कुमारा मा एसो विंधिस्सइत्ति ते विसेसलुंठणाणि विग्घाणि करेंति। तओ ताणि चत्तारि ते य दो पुरिसे बावीसं च कुमारे अगणिंतो ताणं अट्ठण्हं रहचक्काणं अंतरं जाणिऊण तंमि लक्खे निरुद्धाए दिट्ठीए अन्नं मयं अकुणमाणेण सा धीउल्लिया वामे अच्छिंमि विद्धा। तओ लोगेण ओक्किट्ठिकलणायकलयलोम्मिस्सो साहुक्कारो कतो। जहा तं चक्कं दुक्खं भेत्तुं एवं माणुस्सत्तणंति॥ ७॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'चम्मे'त्ति एगो दहो जोयणसयसहस्सवित्थिन्नो चम्मावणद्धो, एगं से मज्झे छिद्दं। जत्थ कच्छभस्स गीवा मायइ। तत्थ कच्छभो वाससए गए गीवं पसारेइ। तेण कहवि गीवा पसारिया, जाव तेण छिड्डेण गीवा निग्गया, तेण जोइसं दिट्ठं, कोमुईए पुप्फफलाणि य। सो गतो, सयणिज्जगाणं दाएमि, आणित्ता सव्वओ घुलति, णवि पेच्छति, अवि सो माणुसातो ॥८॥

'जुगे'त्ति

पुव्वंते होज्ज जुगं अवरंते तस्स होज्ज समिला उ।
जुगछिड्डुंमि पवेसो इय संसइओ मणुयलंभो॥ १॥
जहि समिला पब्भट्ठा सागरसलिले अणोरपारंमि।
पविसेज्जा जुगछिड्डुं कहवि भमंती भमंतम्मि॥२॥
सा चंडवायवीईपणोल्लिया अवि लभेज्ज जुगछिड्डुं।
ण य माणुसाउ भट्ठो जीवो पडिमाणुसं लहइ॥३॥
इति गाथाभ्यो जुगोदाहरणमवसेयम्॥

इयाणिं परमाणू, जहा-एगो खंभो महप्पमाणो, सो देवेण चुण्णेऊणं अविभागिमाणि खंडाणि काऊण णलियाए पक्खित्तो, पच्छा मंदरचूलियाए ठाऊण फूमितो, ताणि णट्ठाणि। अत्थि कोऽवि?, तेहिं चेव पुग्गलेहिं तमेव खंभं णिव्वत्तेज्ज? णो इणमट्ठे समट्ठे, एस अभावो, एवं भट्ठो माणुसातो ण पुणो। अहवा सभा अणेगखंभसयसंनिविट्ठा, सा कालंतरेण झामिया पडिया, अत्थि पुण कोऽवि?, तेहिं चेव पोग्गलिहिं करेज्जा?, णोत्ति, एवं माणुस्सं दुल्लभं॥

इति वादिवेताल - श्रीशान्त्याचार्यप्रणीतायां उत्तराध्ययनसूत्रस्य 'शिष्यहिता' नाम्न्यां बृहद्वृत्तौ तृतीयेऽध्ययने॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुद्धिपत्रक

पृष्ठ	पंक्ति०	अशुद्ध	शुद्ध
प्रथम	१	श्री जिवल्लभ°	श्री जिनवल्लभ°
द्वितीय	३	चन्दलबाला°	चन्दनबाला
द्वितीय	५	३८००७०	३८०००७
चतुर्थ	७	बूहद्वृत्तौ	बृहद्वृत्तौ
		आमुखम्	
२	२३	प्रशिष्या	शिष्या
		प्रस्तावना	
६	१२	विरुद	बिरुद
९	२६	°सुन्दोपा°	°सुन्दरोपा°
१०	२१	चकाष्टक	चक्राष्टक
११	२८	°मिदम	°मिदम्
१३	४	द्वारा श्लोक	द्वारा अन्तिम श्लोक
१४	२७	भी।	भी थे।
१५	२८	°च्यूट	°ट्यूट
१९	१३	आग्मज्ञ	आगमज्ञ
१९	१८	सिद्धि-मनोहर-भुवन	सिद्धि-भुवन-मनोहर
१९	२७	यह यह	यह
२०	५	सिद्धि-मनोहर-भुवन	सिद्धि-भुवन-मनोहर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२	२०	दोषक्षय	दोषक्षयं
१५	६	°वस्तुदो सुरभि°	वस्तुदोग्ध्री सुरभि°
१६	२	°दित द्रव्य°	°दितद्द्रव्य°
२६	२०	नपुसंक°	नपुंसक°
३१	१	°करत्वंनामा°	°करत्वनामा
३२	४	°ज्ञस्यः,	°ज्ञस्य,
३६	१४	द्वाभ्यां अधि°	द्वाभ्याम् अधि°
४३	४	°श्चेति च पञ्च°	°श्चेति पञ्च°
५३	३	मन्त्रो पठित°	मन्त्रः पठित°
६०	७	गोरपत्य	गोरपत्यं
६१	५	परदुखः-	परदुःख-
६७	७	रावणयोर्युद्ध	रावणयोर्युद्धं
७१	१०	°विरस	°विरसं
७२	२	प्लवो प्रवाह°	प्लवः प्रवाह°
७४	४	°विभीषिका°	°बिभीषिका°
७६	३	सरम्भाश्च	संरम्भाश्च
७७	१०	°स्यन्वर्थतो	°स्यान्वर्थतो
७८	१०	°व्यंजन°	°व्यञ्जन°
८८	६	°मेवैत्?	मेवैतत्?
८९	२२	योगा वशी°	योगो वशी°
१०९	२२	बृहद्वद्त्तौ	बृहद्वृत्तौ

卐 卐 卐 卐 卐

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महोपाध्याय विनयसागर

एक परिचय

जन्म-तिथि :	१ जुलाई १९२९
माता-पिता :	(स्व.) श्री सुखलालजी झाबक, श्रीमती पानीबाई।
गुरु :	आचार्य स्व.श्री जिनमणिसागरसूरिजी महाराज
शैक्षणिक योग्यता :	१. साहित्य महोपाध्याय २. साहित्याचार्य ३. जैन दर्शन शास्त्री ४. साहित्यरत्न (संस्कृत-हिन्दी) आदि
सामाजिक उपाधियाँ :	शास्त्रविशारद, उपाध्याय, महोपाध्याय, विद्वद्रत्न, समाजरत्न
सम्मानित :	राजस्थान शासन शिक्षा विभाग, जयपुर; नाहर सम्मान पुरस्कार, मुम्बई;
साहित्य वाचस्पति :	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की सर्वोच्च मानद उपाधि
साहित्य सेवा :	सन् १९४८ से निरन्तर शोध, लेखन, अनुवाद, संशोधन/संपादन; वल्लभ-भारती, कल्पसूत्र, खरतरगच्छ का बृहद् इतिहास, खरतरगच्छ प्रतिष्ठा लेख संग्रह, जिनवल्लभसूरि ग्रन्थावली आदि विविध विषयों के ५८ ग्रन्थ प्रकाशित और प्राकृत भारती अकादमी के १७१ प्रकाशनों का सम्पादन; शोधपूर्ण पचासों निबन्ध प्रकाशित।
भाषा एवं लिपि ज्ञान :	प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी भाषाओं एवं पुरालिपि का विशेष ज्ञान।
कार्य क्षेत्र :	सन् १९७७ से प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर के निदेशक एवं संयुक्त सचिव पद पर कार्यरत।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org